

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अगस्त २०२१

श्रीअरविन्द के जीवन का संक्षिप्त रेखाचित्र



अग्निशिखा अगस्त २०२१

वर्ष ५२, अंक १, पूर्णांक ६१२

विषय-सूची

(श्रीअरविन्द के जीवन का संक्षिप्त रेखाचित्र)

सन्देश/सम्पादकीय	३
श्रीअरविन्द के जीवन का संक्षिप्त रेखाचित्र	५
‘आर्य’	११
श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द	१८
श्रीअरविन्द की शिक्षा	२३
अवतार	३१
श्रीअरविन्द के जीवन का कालानुक्रम	३७
अद्वैत (कविता)	श्रीअरविन्द ४४
‘पुरोधः’ : दैनन्दिनी	४५
‘दिव्य शरीर में दिव्य जीवन’ : समर्पण करते चलें...	४८
श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार	‘श्रीमातृवाणी’ से ५१
साँवरे के दर्शन	वन्दना ५४

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२०००₹.; तीन वर्ष—५८००₹.; पाँच वर्ष—९६००₹.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मातैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,

पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org



सन्देश

... इस योग का सिद्धान्त केवल मानव-प्रकृति के वर्तमान स्वरूप को पूर्ण बनाना नहीं बल्कि सत्ता के सभी अंगों का पहले तो एक आन्तरिक चेतना और फिर उस उच्चतर चेतना की क्रिया के द्वारा चैत्य एवं आध्यात्मिक रूपान्तर साधित करना है जो उन पर कार्य करती है, उनकी पुरानी गतियों को निकाल फेंकती या अपनी गतियों की प्रतिमा में बदल देती है और इस प्रकार निम्न प्रकृति को उच्च प्रकृति में रूपान्तरित कर देती है। इसका स्वरूप इतना बुद्धि को पूर्ण बनाना नहीं जितना उसे अतिक्रान्त करना, मन का रूपान्तर करना, उसके स्थान पर ज्ञान के एक विशालतर एवं महत्तर तत्त्व को स्थापित करना है।

यह एक धीमी और कठिन प्रक्रिया है; मार्ग लम्बा है और आवश्यक आधार की स्थापना करना भी कठिन। पुरानी वर्तमान प्रकृति प्रतिरोध करती और बाधा पहुँचाती है और कठिनाइयाँ एक के बाद एक करके बारम्बार सिर उठाती हैं जब तक उन पर विजय नहीं पा ली जाती। इसलिए इस पथ पर पग रखने का अन्तिम निर्णय करने से पहले व्यक्ति के लिए इस बात का निश्चय कर लेना आवश्यक है कि उसे इसी मार्ग के लिए पुकार हुई है।

श्रीअरविन्द

सम्पादकीय : श्रीअरविन्द का जीवन हमारे सम्मुख एक ऐसा उदाहरण है कि हम अपने अन्दर के मानव को कैसे भागवत बना सकते हैं और अपने पार्थिव जीवन को भागवत जीवन में कैसे रूपान्तरित कर सकते हैं। वे विश्व के जितने विशाल हैं और उनके जीवन के सभी विभिन्न पहलुओं का स्पर्श करना असम्भव है।

यहाँ हम उनके जीवन के कुछ पहलुओं को स्वयं उन्हीं की वाणी में उजागर करने का प्रयास कर रहे हैं।



नीरवता के शिखरों पर

अनन्त समुद्र के परे, नीरवता के शिखरों पर,
अग्निशिखा थामे,
उतरे वे स्वर्ण पुरुष,
जगत् को निहारा उन्होंने, ताकि उनकी महानता और उद्वेग
निर्मुक्त हो बह उठें उसमें।

CWSA खण्ड २, पृ. ६४९

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द के जीवन का संक्षिप्त रेखाचित्र

बचपन तथा प्रारम्भिक वर्ष

श्रीअरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ में कलकत्ते में हुआ था। १८७९, सात साल की उम्र में उन्हें अध्ययन के लिए उनके दो बड़े भाइयों के साथ इंग्लैण्ड ले जाया गया। वे वहाँ चौदह वर्ष रहे। पहले पहल मैनचेस्टर में एक अंग्रेज़ परिवार के साथ रहते हुए वे लन्दन के सेण्ट पॉल विद्यालय में भरती हुए (१८८४) और १८९० में वे वहाँ से उच्च वज़ीफ़े के साथ केम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में दाख़िल हुए, जहाँ उन्होंने दो वर्षों तक अध्ययन किया। १८९० ही में वे 'भारतीय सिविल सर्विस' की खुली प्रतियोगिता में भी उत्तीर्ण हुए, लेकिन दो साल के परिवीक्षण-काल के अन्त में घुड़सवारी की परीक्षा में वे नहीं गये और इस तरह सेवा के लिए अयोग्य ठहराये गये। उस समय बड़ौदा के राजा गायकवाड़ लन्दन में ही थे। अरविन्द उनसे मिले, गायकवाड़ ने अपने साथ कार्य करने के लिए उनसे बातचीत की और जनवरी १८९३ में वे इंग्लैण्ड छोड़ कर भारत आ गये।

श्रीअरविन्द ने १८९३ से १९०६ तक—१३ साल—गायकवाड़ के यहाँ कार्य किया—पहले वहाँ के रेवेन्यू-विभाग (राजस्व) और महाराजा के सचिव के रूप में, उसके बाद वे अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर और अन्त में, बड़ौदा कॉलेज के वाइस-प्रिंसिपल बने। यह उनके आत्म-अध्ययन का काल था, और काल था उनकी साहित्यिक गतिविधियों का—बाद में पॉण्डिचेरी में प्रकाशित काव्य के अधिकांश भाग का सृजन बड़ौदा में ही हुआ था; साथ ही अपने भावी कार्य की तैयारी भी उन्होंने वहीं की थी। इंग्लैण्ड में उनके पिता के स्पष्ट और कठोर निर्देशों के अनुसार उन्हें पूरी तरह से पाश्चात्य संस्कृति और शिक्षा दी गयी थी, भारतीय तथा पूर्वीय संस्कृति का रत्ती-भर उनकी थाली में कभी नहीं परोसा गया। बड़ौदा में रह कर उन्होंने इसकी क्षतिपूर्ति की, संस्कृत के साथ-साथ कई आधुनिक भारतीय भाषाएँ सीखीं, भारतीय सभ्यता तथा उसके अतीत तथा वर्तमान रूपों को अच्छी तरह आत्मसात् किया। बड़ौदा-काल के अन्तिम वर्षों का अधिकांश मौन राजनैतिक गतिविधि में बीता, क्योंकि बड़ौदा में अपने पद की वजह से वे सार्वजनिक राजनीतिक गतियों में भाग नहीं ले सकते थे।

(ग्रीक और लैटिन भाषाओं के वे पण्डित थे। फ्रेंच उन्होंने बचपन ही में मैनचेस्टर में सीखी थी और आत्म-अध्ययन करके इतने पर्याप्त रूप में सीख ली थी कि गेटे और दाँते की रचनाएँ वे मूल में पढ़ा करते थे। केम्ब्रिज में ट्राइपॉज की परीक्षा उन्होंने पहली डिवीज़न में पास की और भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा में ग्रीक और लैटिन में इन्हें प्रशंसनीय अंक मिले।)

भारतीय क्रान्तिकारी हलचल

१९०५ में बंगाल-विभाजन के विरुद्ध हुए आन्दोलन ने श्रीअरविन्द को सुअवसर प्रदान किया और वे बड़ौदा की नौकरी छोड़ कर, सक्रिय रूप से राजनैतिक आन्दोलन में आ पहुँचे। १९०६ में उन्होंने बड़ौदा छोड़ा और कलकत्ता आकर नव-स्थापित 'बंगाल नैशनल कॉलेज' के प्रधानाध्यापक का पद-भार सँभाल लिया। श्रीअरविन्द का राजनैतिक कार्य-कलाप—१९०२ से १९१०—आठ वर्षों तक चला। पहले चार साल उन्होंने परदे के पीछे रह कर कार्य किया, यानी, अपने सहकर्मियों के साथ स्वदेशी-आन्दोलन (Indian Sinn Fein) की शुरुआत में हिस्सा लिया, और जब बंगाल का आन्दोलन शुरू हुआ तो उस हड़कम्प ने उन्हें खुला न्योता दिया कि वे इण्डियन नैशनल काँग्रेस के नरमपन्थी के सिद्धान्त को न अपना कर, सामने प्रकट होकर सीधा राजनीति में कूद पड़ें। १९०६ में वे इसी उद्देश्य से बंगाल आये और उस नयी पार्टी से जुड़ गये जिसे हाल ही में काँग्रेस ने रूप दिया था, जिसमें लोगों की संख्या कम थी और जो अभी तक अपने प्रभाव में प्रबल न हुई थी। इस पार्टी का राजनैतिक सिद्धान्त असहयोग आन्दोलन से एकदम भिन्न था, काँग्रेस की वार्षिक सभा में नरमपन्थी नेताओं के साथ इनकी कुछ झड़पें भी हुई थीं...। श्रीअरविन्द ने बंगाल में इस दल के नेताओं को समझाया कि वे अखिल भारतीय पार्टी के रूप में खुले तौर पर सामने आयें, अपना निश्चित और चुनौतीभरा कार्यक्रम प्रस्तुत करें, उनका सुझाव था कि वे लोकप्रिय मराठा नेता तिलक को पार्टी का अध्यक्ष बनायें और उस समय के प्रभावी, नरमपन्थियों (सुधारकों या उदारवादियों) यानी, पुराने राजनेताओं के गुटतन्त्र पर प्रहार कर, काँग्रेस तथा देश को उनके पंजे से छुड़ा लें। नरमपन्थियों और राष्ट्रवादियों के बीच (जिन्हें

उनके विरोधी चरमपन्थी कहा करते थे) यही ऐतिहासिक संघर्ष था जिसने दो साल के अन्दर भारतीय राजनीति का चेहरा ही पूरी तरह बदल डाला।

नयी जन्मी राष्ट्रवादी पार्टी ने स्वराज (स्वतन्त्रता) को लक्ष्य के रूप में सामने रखा, जब कि नरमपन्थियों की सुदूर आशा थी कि धीरे-धीरे सुधार के साथ—भले उसमें एक सदी लगे या दो लगे—अपनी औपनिवेशिक सरकार हो।... नयी पार्टी का मन्त्र था—आत्म-निर्भरता; एक तरफ़ उसने राष्ट्र की शक्तियों की प्रभावकारी व्यवस्था को लक्ष्य बनाया और दूसरी तरफ़ सरकार की नीति के साथ पूरी तरह से असहयोग का डंका पीट दिया।

ब्रिटिश तथा विदेशी चीजों का बॉयकॉट, उनकी जगह स्वदेशी उद्योगों की स्थापना, ब्रिटिश-शासन-प्रणाली को नकार कर अपने मध्यस्थों अथवा पंचों को बिठाना, सरकारी यूनिवर्सिटी और कॉलेजों का बहिष्कार करके राष्ट्रीय कॉलेज तथा विद्यालय खड़ा करने की पूरी योजना बना कर उसे लागू करना, समाज में ऐसे युवाओं का दल बनाना जो पुलिस तथा देश की सुरक्षा का कार्यभार सँभाल लें, अगर प्रतिरोध करना हो तो पीछे न हटें। श्रीअरविन्द को आशा थी कि वे काँग्रेस को अपने हाथ में लेकर उसे एक सुव्यवस्थित राष्ट्रीय कार्य का सीधा केन्द्र बना देंगे, यानी, राष्ट्र के अन्दर एक पूरा अनौपचारिक राष्ट्र कार्य करेगा, जो स्वतन्त्रता प्राप्त होने तक जी-जान से स्वतन्त्रता-संग्राम में जुटा रहेगा। उन्होंने अपनी पार्टी को इस दिशा में बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया, साथ ही नव-स्थापित दैनिक पत्र—बन्दे मातरम्—को आर्थिक तथा अन्य सभी दृष्टियों से अपना समर्थन करने को कहा। उस समय वे उसके कार्यकारी सम्पादक थे, वस्तुतः, इसके आरम्भ, यानी १९०७ से ही 'बन्दे-मातरम्' का अर्थ से इति तक सारा कार्यभार वे ही सँभाले हुए थे, और सारे भारत में इसका प्रसार हो रहा था कि १९०८ में सब कुछ यकायक ठप्प पड़ गया जब श्रीअरविन्द को एक वर्ष कारावास सुना दिया गया। लेकिन इस अल्पकाल में भी 'बन्दे-मातरम्' ने सारे देश में तहलका-सा मचा दिया, लेकिन तब भारत तैयार न था और भविष्य में झाँकने का ऐसा बड़ा, निर्णायक क्रदम वह उठा न पाया...।

श्रीअरविन्द ने एक वर्ष कारागार में बिताया... वे अलीपुर बम-केस के षड्यन्त्र में पकड़े गये थे, उनके ऊपर यह आरोप भी लगा था कि वे अपने भाई बारीन्द्र के नेतृत्व में चल रहे क्रान्तिकारी दल में सक्रिय रूप से

भाग ले रहे थे, लेकिन कोई भी ठोस सबूत न मिलने के कारण उन्हें मई १९०९ में रिहा कर दिया गया। बाहर आकर उन्होंने देखा कि सारा कार्य तितर-बितर हो गया था, नेताओं को जेल की सजा सुना दी गयी थी। क़रीब साल भर तक उन्होंने अकेले ही अपने आन्दोलन को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इसी समय उन्होंने अंग्रेज़ी अख़बार 'कर्मयोगिन्' और एक बंगला साप्ताहिक 'धर्म' निकाला। लेकिन अन्त में उन्हें पता लग गया कि राष्ट्र उनके राजनैतिक कार्यक्रम का अनुसरण करने के लिए पर्याप्त रूप से तैयार नहीं है। पहले उन्होंने सोचा कि नरमपन्थियों के विरोध में वे एक आन्दोलन का आरम्भ करें, लेकिन फिर उन्होंने देखा कि इस सबका मुहूर्त नहीं आया है और इस कार्य के लिए वे निर्दिष्ट नेता नहीं हैं। और सबसे बढ़ कर यह कि बारह महीने एकान्त कारावास में रह कर—जो काल उन्होंने पूरी तरह से योगाभ्यास में बिताया था—उनका आध्यात्मिक जीवन उन्हें पूरी तरह से दूसरी ही ओर खींच रहा था—एकाग्र ध्यान और निदिध्यासन की ओर। अतः, उन्होंने निश्चय किया कि कम-से-कम कुछ समय के लिए वे राजनैतिक क्षेत्र से हट जायेंगे...

पॉण्डिचेरी की ओर प्रस्थान तथा योगाभ्यास

फ़रवरी १९१० में गुप्त एकान्तवास के लिए वे (तृतीय पुरुष में श्रीअरविन्द द्वारा लिखित) चन्दननगर चले गये तथा अप्रैल के आरम्भ में फ्रेंच-भारत स्थित पॉण्डिचेरी आ गये। इस समय 'कर्मयोगी' में एक हस्ताक्षरित लेख के लिए उनके विरुद्ध तीसरी बार मुक़द्दमा चलाया गया। उनकी उपस्थिति में समाचार-पत्र के मुद्रक पर दोषारोपण किया गया किन्तु अपील करने पर कलकत्ता के उच्च न्यायालय में इसे रद्द कर दिया गया। उनके विरुद्ध तीसरी बार अभियोग असफल रहा था। श्रीअरविन्द ने अधिक अनुकूल परिस्थितियों में राजनीतिक क्षेत्र में पुनः लौट आने के अभिप्राय से बंगाल छोड़ा था। किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपने आध्यात्मिक कार्य की विशालता का अनुभव किया और उन्हें लगा कि इसमें उनकी समस्त शक्ति की एकनिष्ठ एकाग्रता की ज़रूरत होगी। अन्ततोगत्वा उन्होंने राजनीति से सम्पर्क तोड़ लिया, राष्ट्रीय काँग्रेस की अध्यक्षता अनेक बार अस्वीकृत कर दी तथा पूर्ण एकान्तवास में चले गये। पॉण्डिचेरी में १९१० से वर्तमान

समय तक अपने सम्पूर्ण आवास की अवधि में वे एकनिष्ठ रूप से अपने आध्यात्मिक कार्य और अपनी साधना के प्रति निवेदित रहे।

वर्ष १९१४ में, नीरव योग के चार वर्षों के पश्चात् उन्होंने एक दार्शनिक मासिक पत्रिका, 'आर्य' का प्रकाशन आरम्भ किया। उनकी अधिकांश महत्त्वपूर्ण रचनाएँ, जैसे—ईश-उपनिषद्, गीता-प्रबन्ध, अन्य, जो अभी तक अप्रकाशित हैं, दिव्य जीवन, योग-समन्वय 'आर्य' में क्रमिक रूप से प्रकाशित होती रहीं। इन रचनाओं में उनके योगाभ्यास द्वारा प्राप्त आन्तरिक ज्ञान का अधिकांश मूर्तिमान् हो गया। अन्य रचनाएँ भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की भावना तथा महत्त्व, वेद के वास्तविक अर्थ, मानव समाज की प्रगति, काव्य की प्रकृति तथा क्रमिक विकास, मानवजाति की एकता की सम्भावना से सम्बन्धित थीं। उसी समय उन्होंने अपनी उन कविताओं का भी प्रकाशन आरम्भ कर दिया जो उन्होंने इंग्लैण्ड में, बड़ौदा में, राजनीतिक गतिविधि की अवधि तथा पॉण्डिचेरी आवास के प्रथम वर्ष में लिखी थीं। वर्ष १९२१ में साढ़े छह वर्ष के निर्बाध प्रकाशन के पश्चात् 'आर्य' बन्द हो गया।

सबसे पहले श्रीअरविन्द पॉण्डिचेरी के एकान्तवास में अपने चार या पाँच शिष्यों के साथ रहते थे। तत्पश्चात् उनके आध्यात्मिक पथ का अनुगमन करने के लिए अधिक लोग उनके पास आने लगे। और उनकी संख्या इतनी अधिक हो गयी कि उन लोगों के भरण-पोषण तथा सामूहिक मार्गदर्शन के लिए, जो एक उच्चतर जीवन के लिए अपनी हर चीज़ पीछे छोड़ चुके थे—साधकों का एक समुदाय बनाना पड़ा। श्रीअरविन्द आश्रम की स्थापना का यही आधार था जिसके केन्द्र के रूप में उनके चारों ओर निर्माण-कर्म किया गया और स्वाभाविक संवर्धन अधिक हुआ।

श्रीअरविन्द ने योग का अपना अभ्यास १९०५ में आरम्भ किया। सबसे पहले वे इसमें आध्यात्मिक अनुभूति के मूलभूत तत्त्वों को, जो दिव्य समागम तथा आध्यात्मिक सिद्धि से उपलब्ध होते हैं—भारत में आने तक एकत्र करते रहे। फिर वे एक ऐसी अधिक पूर्ण अनुभूति की ओर आगे बढ़ गये जो सत्ता के दोनों छोरों—आत्मन् और जड़-पदार्थ—को संयुक्त करते हैं। योग की अधिकांश विधियाँ आत्मन् तक मार्गदर्शित करने वाले परे जाने के मार्ग हैं जो अन्त में जीवन से दूर ले जाते हैं। श्रीअरविन्द का योग आत्मन् तक आरोहण करता है और ज्योति, शक्ति तथा आनन्द के साथ उसकी

उपलब्धियों को जीवन के रूपान्तरण के लिए नीचे अवरोहित करता है। इस दृष्टिकोण से भौतिक जगत् में मनुष्य का वर्तमान अस्तित्व अज्ञानमय जीवन है जिसके मूल में निश्चेतना का राज्य है। किन्तु इस अन्धकार और निश्चेतना में भी भगवान् की उपस्थिति तथा सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हैं। यह सृजित जगत् कोई भूल अथवा निस्सार और माया नहीं है जिसे त्याग कर आत्मा स्वर्ग अथवा निर्वाण की ओर लौट जाये, बल्कि एक आध्यात्मिक क्रमविकास का ऐसा दृश्य है जिसके द्वारा इस भौतिक निश्चेतना में से वस्तुओं में निहित भागवत चेतना को क्रमिक रूप से अभिव्यक्त किया जा सकता है। क्रमविकास में मन अब तक हमारी पहुँच की अन्तिम सीमा है, परन्तु यह विकास की क्षमता की अन्तिम सीमा नहीं है। इसके ऊपर अतिमानस अथवा शाश्वत सत्य-चेतना है जो अपनी प्रकृति में एक भागवत ज्ञान का आत्म-सचेतन तथा आत्म-निर्धारक प्रकाश तथा शक्ति है। मन सत्य की खोज करने वाला अज्ञान है किन्तु अतिमानस स्वयम्भू ज्ञान है जो अपने रूपों तथा शक्तियों की क्रीड़ा को सामञ्जस्य के साथ अभिव्यक्त कर रहा है। केवल इसी अतिमानस के अवरोहण के द्वारा वह पूर्णता आ सकती है जिसका सबने सपना देखा है और जो मानवता में उच्चतम है। महत्तर दिव्य चेतना के प्रति उद्घाटन द्वारा ज्योति तथा आनन्द की इस शक्ति की ओर ऊपर उठना, अपने सच्चे व्यक्तित्व की खोज करना, भगवान् के साथ सतत संयुक्त रहना तथा मन, प्राण और शरीर के रूपान्तरण के लिए अतिमानसिक शक्ति को नीचे लाना सम्भव है। इस सम्भावना को सिद्ध करना श्रीअरविन्द के योग का गत्यात्मक लक्ष्य रहा है।

CWSA खण्ड ३६, पृ. ५-१०

श्रीअरविन्द



श्रीअरविन्द की अनुकम्पा
असंख्य, सतत उपस्थित और
प्रभावकारी
(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का
आध्यात्मिक अर्थ)

‘आर्य’

मासिक पत्रिका ‘आर्य’ (१९१४-१९२१) में श्रीअरविन्द के कई बृहद् ग्रन्थ—दिव्य-जीवन, योग-समन्वय इत्यादि पहली बार प्रकाशित हुए थे। पृथक् पुस्तकों के रूप में प्रकाशित होने से पहले ये सभी ग्रन्थ सामूहिक रूप से “आर्य” के नाम से जाने जाते थे।—सं.

‘आर्य’ का विचार

... और फिर भारत के लोग केवल पुराने विचारों को अपनाते के आदी होते हैं, पतञ्जलि इत्यादि दार्शनिकों की चिर-परिचित धारणाओं को ही मानना चाहते हैं। जीवन, विचार अथवा योग की कोई भी नयी प्रस्तुति उनकी प्रत्याशाओं को अव्यवस्थित कर देती है, वह उनकी समझ के बाहर होती है। ‘आर्य’ पत्रिका में अभिव्यक्त मेरे विचार पाठक को गम्भीरता से सोचने और समझने पर मजबूर करते हैं, और वे इस कष्ट को उठाना नहीं चाहते। वे अपने मन को हर क्षेत्र में रमाना तो चाहते हैं, लेकिन मन के व्यायाम करना वे एकदम भूल चुके हैं।

फ़िलहाल कोई फ़र्क नहीं पड़ता जब तक कि जो लोग योगाभ्यास में लगे हैं वे इसे पढ़ें और इससे लाभ उठाते रहें। ‘आर्य’ एक नया दर्शन और योग की नयी प्रक्रिया प्रस्तुत कर रहा है और किसी भी नयी चीज़ की सुनवायी में समय लगता ही है। निस्सन्देह, वस्तुतः इसमें पुरातन को ही वापस प्रकाश में लाने की प्रक्रिया सुझायी गयी है, लेकिन वह इतना पुरातन है कि लोग उसे बिसरा बैठे हैं। केवल वे ही जो इसका अभ्यास करते और इसकी अनुभूति प्राप्त करते हैं, इसे समझ सकते हैं। एक तरह से यह अच्छा ही है, क्योंकि ‘आर्य’ का दर्शन लोगों के जीवन को परिवर्तित करना है, मात्र उनके मानस को सन्तुष्ट करना नहीं है। फ़्रांस में उन लोगों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है जो सत्य की खोज में हैं, क्योंकि वे लोग पुराने तथा हस्तान्तरित विचारों में ही बन्द नहीं हैं, वे किसी ऐसी वस्तु की आस लगाये बैठे हैं जो उनके आन्तरिक तथा बाह्य जीवन को बदल दे। जब मन की वही समान अवस्था यहाँ के लोग अपना सकेंगे तभी ‘आर्य’ की प्रशंसा करना प्रारम्भ कर सकेंगे। अभी, बंगाल केवल राजनीति और

तपस्या को ही समझता और सराहता है। 'आर्य' के केन्द्रीय विचार उसके लिए ख-पुष्प ही बने हुए है।

'आर्य' शुरू करने के कुछ समय बाद ही मुझे कुछ स्नातकों से एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे जो चाहते थे वह था, "मनुष्य का निर्माण"। मैंने मनुष्य के निर्माण का अपना कार्य पूरा कर दिया, अब यह ऐसा कार्य है कि इस आधार पर कोई भी अपना योगदान दे सकता है; स्वयं 'प्रकृति' ही सारे संसार में इस पर कार्य कर रही है, हालाँकि किसी और स्थान से ज्यादा धीमे भारत में कार्य हो रहा है। अब मेरा कार्य मनुष्य का निर्माण नहीं, बल्कि *दिव्य मनुष्य का निर्माण* करना है। मेरी वर्तमान शिक्षा यही है कि जगत् एक नयी प्रगति, एक नये क्रमविकास के लिए तैयारी कर रहा है।

जो कोई जाति, जो कोई देश इस नये क्रमविकास की लीक को पकड़ कर चलता चला जायेगा वही मानवजाति का नेता बनेगा। 'आर्य' में मैंने उस विचार को रखा है जिस पर यह नया क्रमविकास उस रूप में खड़ा होगा जिस रूप में मैंने उसे देखा है, साथ ही मैंने योग की वह प्रक्रिया भी दर्शायी है जिस पर चल कर हम इसे चरितार्थ या सिद्ध कर सकते हैं।...
CWSA खण्ड ३६, पृ. २२४-२५

... हम इस विचार से प्रारम्भ करें कि मानवता अपने जीवन के एक महान् परिवर्तन की ओर बढ़ रही है जो उसे एक नयी जाति तक भी पहुँचा सकता है—उन सभी देशों में, जहाँ मनुष्य चिन्तन-मनन करते हैं, आजकल यह विचार तथा यह आशा विभिन्न रूपों में प्रकट हो रहे हैं—और हमारा लक्ष्य सदा से ऐसे आध्यात्मिक, धार्मिक तथा अन्य सत्यों की खोज में रहा है जो जाति को इस गति तथा इस उद्यम के बारे में सचेतन बना कर उसका पथ-प्रदर्शन कर सकें। वह आध्यात्मिक अनुभूति तथा वे व्यापक सत्य—जिन पर हम अपने प्रयासों को मजबूती से टिका सकें—पहले से ही हमारे अन्दर मौजूद हैं, वरना ऐसे प्रयास को हाथ में लेने का हमारा अधिकार तक नहीं होता; लेकिन उनको पूरी तरह से क्रियान्वित करने तथा परिणामों तक पहुँचने के लिए हमें उन्हें अच्छी तरह समझना होगा। इसका अर्थ है, सतत चिन्तन-मनन, विभिन्न दिशाओं में उच्च, सूक्ष्म

और जटिल चिन्तन और इसे हमें स्वयं अपने और अपने पाठकों पर भी लागू करना होगा...।

हमारा मौलिक विचार यह था कि हम दो संस्कृतियों के प्रारम्भिक बिन्दु से ही समन्वय की ओर अग्रसर हों, ये दो संस्कृतियाँ मानव-विचार में विभेद उत्पन्न करती हैं, और अब ये शिखर पर मिल रही हैं—पश्चिम का ज्ञान तथा पूरब का ज्ञान; लेकिन विश्वयुद्ध के आपत्काल में इसे सम्पन्न नहीं किया जा सका। “आर्य” में केवल एक अपूर्ण शृंखला के अलावा बाक्री सभी शृंखलाएँ भारतीय मानसिकता और भारतीय आध्यात्मिक अनुभूति के उच्चतम समन्वयात्मक सत्य के दृष्टिकोण से ही आगे बढ़ी हैं, और पाश्चात्य ज्ञान को भी उसी दृष्टिकोण से देखा गया है। हमारे लेखन में जो विचार प्रमुख रहा है वह हमारे सम्मुख खड़ी समस्या के आधार पर ही है। समस्त दर्शन दो चीजों के सम्बन्ध पर निर्भर करता है—अस्तित्व के मूलभूत सत्य और उन रूपों पर जिनके द्वारा अस्तित्व हमारे सम्मुख उस सत्य को प्रस्तुत करता है। गभीरतम अनुभूति यह दर्शाती है कि मूलभूत सत्य ‘आत्मा’ का सत्य है; दूसरा है जीवन का सत्य, शक्ति को आकार देने का तथा जीवन्त विचार और क्रिया का सत्य। यहाँ पूरब और पश्चिम ने भिन्न दिशाओं को अपनाया है। पश्चिम ने जीवन के सत्य पर सबसे ज़्यादा जोर दिया था, और एक समय तो ऐसा आया कि उसने अपने जीवन की बाज़ी केवल जीवन के सत्य पर ही लगा दी; यानी, उसने आत्मा के अस्तित्व को ही नकार दिया या उसे अज्ञात और अज्ञेय के क्षेत्र में देशनिकाला दे दिया; अब वह उस अतिरञ्जना से निकल कर वापस लौट रहा है। पूर्व ने आत्मा के सत्य पर सबसे ज़्यादा जोर दिया और एक समय तो ऐसा आया—कम-से-कम भारत में—कि उसने अपने सम्पूर्ण जीवन का दाँव केवल सत्य पर लगा दिया, उसने जीवन की बाक्री सभी सम्भावनाओं की या तो अवहेलना की या उन्हें एक सँकरे खाँचे में जड़ दिया; पूर्व भी अपनी अतिरञ्जना से निकल कर वापस लौट रहा है। पश्चिम ‘आत्मा’ के सत्य तथा जीवन की आध्यात्मिक सम्भावनाओं की ओर पुनः जाग रहा है, पूर्व ‘जीवन’ के सत्य की ओर जाग रहा है और उसे अपने आध्यात्मिक ज्ञान में नये तरीक़े से प्रयुक्त करने की कोशिश में लग गया है। हमारा दृष्टिकोण यही रहा है कि उनके बीच बनाया गया विरोध अवास्तविक है। चूँकि आत्मा

ही अस्तित्व का मूलभूत सत्य है, जीवन केवल उसी की अभिव्यक्ति हो सकता है; 'आत्मा' न केवल जीवन का उत्स है बल्कि उसका आधार, उसकी सर्वव्यापी वास्तविकता तथा उसका उच्चतम तथा पूर्ण परिणाम भी है। लेकिन यह भी सच है कि जीवन जिन रूपों में हमारे सम्मुख प्रकट होता है वे उसके मुखौटों के साथ ही साथ उसकी आत्म-अभिव्यक्ति के साधन भी हैं।

CWSA खण्ड १३, पृ. १०५-०७

“आर्य” शब्द का प्रतीकात्मक अर्थ

प्रश्न: “आर्य” शब्द की महत्ता क्या है?

प्रश्न एक से अधिक दृष्टिकोण से किया गया है।... भारतीय इस शब्द के अर्थ को समझते हैं, परन्तु उनके लिए उसका वह अर्थ नष्ट हो चुका है जो उनके पूर्वजों के लिए था। पाश्चात्य भाषा-व्युत्पत्तिशास्त्र ने इसे एक जातिवाचक अज्ञात संज्ञा में बदल दिया है जिसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न मूल्यों को सुनिश्चित करती हैं। अब, भाषा-व्युत्पत्तिशास्त्रियों में भी कुछ स्वीकार करते हुए नज़र आ रहे हैं कि यह शब्द अपने मौलिक प्रयोग में जाति के विभेद का वाचक न होकर सांस्कृतिक विभेद का वाचक था। क्योंकि वेदों में आर्यगण वे हैं जिन्होंने अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी आदर्शवादिता तथा अभीप्सायुक्त एक विशिष्ट प्रकार की आत्म-संस्कृति को स्वीकार किया। आर्यों के देवगण अतिभौतिक शक्तियाँ थीं जिन्होंने मर्त्यशीलों को उनके परमेश्वरोन्मुखी संघर्ष में सहायता दी थी। प्रारम्भिक मानवजाति की सभी उच्चतम अभीप्साएँ, उसका श्रेष्ठतम धार्मिक स्वभाव, उसके अत्यन्त आदर्शवादी विचार की आकांक्षाएँ इस एक शब्द में समाहित हैं।

परवर्ती कालों में 'आर्य' शब्द ने एक विशिष्ट नैतिक तथा सामाजिक आदर्श, एक सुशासित जीवन, निष्कपटता, विनम्रता, शिष्टता, स्पष्टवादिता, साहस, मृदुता, पवित्रता, मानवता, करुणा, दीनरक्षा, उदारता, सामाजिक कर्तव्यों का पालन, ज्ञान पाने की लालसा, ज्ञानवान् और विद्वानों के प्रति सम्मान, सामाजिक उपलब्धियों को प्रकट किया था। यह ब्राह्मण और क्षत्रिय का संयुक्त आदर्श हो गया। जो कुछ भी इस आदर्श से च्युत हो जाता था,

जो अधम, क्षुद्र, अस्पष्ट, असभ्य, क्रूर या असत्य की ओर चला जाता था, उसे अनार्य की संज्ञा दे दी जाती थी। मानव की भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसका इतिहास इतना उत्कृष्ट हो।

तुलनात्मक भाषा-व्युत्पत्तिशास्त्र के प्रारम्भिक काल में, जब विद्वानों ने प्रागैतिहासिक काल के शब्दों के इतिहास की खोज की, तब यह माना गया कि 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति में शब्द है 'अर्—यानी, खेती करना। वैदिक आर्यों के अनुसार इसकी खोज तब की गयी जब आर्य अपने स्वजनों से दूर हट कर उत्तर-पश्चिम की ओर चले गये, जिन्होंने कृषि-कार्य करना त्याग दिया और गड़रिये या शिकारी बन कर रह गये। इस विचक्षण कल्पना का आधार नगण्य है अथवा निराधार है। परन्तु एक अर्थ में हम व्युत्पत्ति को स्वीकार कर सकते हैं। जो भी, परमेश्वर-प्रदत्त इस शरीररूपी क्षेत्र, इसकी उर्वरा भूमि की आन्तरिक और बाह्य खेती करता है, उसे बंजर नहीं छोड़ता अथवा न केवल उसे उपजाऊ बनाना है बल्कि उससे पूरा-पूरा उत्पादन प्राप्त करने हेतु श्रम करता है, इस प्रयास के कारण वह 'आर्य' है।

'आर्य' शब्द यदि विशुद्ध जातीय है तो अधिक सम्भावित व्युत्पत्तिमूलक धातु होगी 'अर्', जिसका अर्थ है शक्ति या शौर्य। 'अर्', यानी युद्ध करना जहाँ से ग्रीक के युद्ध के देवता 'अरेस' (Ares) की व्युत्पत्ति होती है, जिसका भाव है वीर या युद्धप्रिय। सम्भवतः 'अरीते' भी गुणवाचक शब्द है जो लैटिन शब्द 'वर्चूस' (Virtus) से आया हो, जिसका पहला अर्थ है, शारीरिक शक्ति एवम् साहस, तत्पश्चात् उसका अर्थ ग्रहण किया जाता है, 'नैतिक बल' तथा 'गौरव'। 'अर्' शब्द के इस अर्थ को भी हम स्वीकार कर सकते हैं। "उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करने हेतु हम युद्ध करते हैं, अतः लोग हमें योद्धा कह कर पुकारते हैं।" क्योंकि ज्ञान से तात्पर्य है उसका चुनाव करना तथा उसका ज्ञान प्राप्त करना जो सर्वोत्तम, श्रेष्ठतम, परम प्रकाशयुक्त एवम् परम दिव्य है। निश्चित रूप से, इसका अर्थ है, सभी वस्तुओं का ज्ञान एवम् उदारता तथा सर्वव्यापी परमेश्वर के रूप में सभी वस्तुओं, यहाँ तक कि दिखने में तुच्छ, कुरूप या निन्द्य के प्रति भी सम्मान, क्योंकि वे सभी वस्तुओं में समान रूप से वास करते हैं। फिर भी सही क्रिया के पीछे भी नियम है चुनाव करना—वह जो परमेश्वर को अभिव्यक्त करता है या वह जो उन्हें छिपाता है—इन दोनों के बीच चुनाव करना। और चुनाव

करने में आ जाता है—एक संग्राम, एक संघर्ष। चुनाव करना सहज नहीं होता, इसे सहजता से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। जो कोई वह चुनाव करता है, किसी भी भय के बिना, किसी भी पराजय से हतोत्साहित हुए बिना, किसी भी विशालता से संकुचित हुए बिना, क्योंकि यह उसकी बुद्धि से अति विशाल है; किसी भी ऊँचाई से डरे बिना, क्योंकि वह उसकी आत्मा के लिए अति उच्च है, किसी भी महानता से घबराये बिना, क्योंकि वह उसके बल और साहस के लिए अति महान है, पीछे हटे बिना उच्च से उच्च शिखर की ओर आरोहण करने का प्रयास करता है वही 'आर्य', दिव्य योद्धा तथा अजित, शिष्ट मानव, गीतोक्त 'श्रेष्ठ' मानव है।

यथार्थतः अपने मौलिकतम अर्थ में आर्य का तात्पर्य है, एक प्रयास, एक उभार और फिर विजय। 'आर्य' वह है जो प्रयास करता है तथा मानव-विकास में सभी बाह्य एवम् आन्तरिक बाधाओं को पार कर लेता है। आत्म-विजय उसके स्वभाव का पहला विधान है। वह पृथ्वी और शरीर को जीत लेता है तथा एक साधारण मनुष्य की तरह प्रमादी, अकर्मण्य, निर्जीव दिनचर्या तथा तामसिक सीमाओं में बँधा रहना स्वीकार नहीं करता। वह जीवन और उसकी ऊर्जाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा उनकी क्षुधाओं तथा माँगों को स्वयं पर हावी नहीं होने देता या उसकी राजसिक प्रवृत्तियों द्वारा वशीभूत नहीं होता। वह मन और उसके स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह अज्ञान के आवरणों, परम्परा से प्राप्त पक्षपातपूर्ण अवधारणाओं, प्रचलित मान्यताओं, रमणीय विचारों में नहीं जीता, बल्कि वह जानता है कि अन्वेषण एवम् चयन कैसे किया जाये, संकल्प में सुदृढ़ होने के साथ-साथ, बुद्धि में उदार और लचीला कैसे बना जाये। क्योंकि वह हर वस्तु में सत्य, हर वस्तु में न्याय, हर वस्तु में ऊँचाई और स्वतन्त्रता की ही खोज करता है।

आत्म-परिपूर्णता ही उसकी आत्म-विजय का लक्ष्य होता है। अतः जिस पर वह विजय प्राप्त करता है उसे वह ध्वस्त नहीं करता, बल्कि उसे उत्कृष्ट एवम् परिपूर्ण बनाता है। वह जानता है कि शरीर, प्राण और मन उसे उनसे कुछ उच्च वस्तु प्राप्त करने के लिए दिये गये हैं; अतः उसे उनका अतिक्रमण कर उनसे ऊपर उठ जाना चाहिये, उनकी सीमाओं को अस्वीकार कर उनकी सन्तुष्टि का निराकरण करना चाहिये। परन्तु वह यह

भी जानता है कि 'उच्चतम' जगत् में शून्य के रूप में विराजमान नहीं है, बल्कि वह है—स्वयं को उत्तरोत्तर अभिव्यक्त करने वाला दिव्य 'संकल्प', 'चेतना', 'प्रेम', 'परमानन्द' जो उपलब्धि के उपरान्त स्वयं को निम्न जीवन में इसके पाने वाले में तथा ग्रहणशीलता की क्षमता रखने वाले परिवेश में अभिव्यक्त करता है। वह उसका सेवक, प्रेमी तथा अन्वेषक है। जब यह प्राप्त हो जाता है तो वह उसे मनुष्यजाति में कर्म, प्रेम, आनन्द और ज्ञान के रूप में उँडेल देता है। क्योंकि 'आर्य' सदैव ही कर्मी एवम् योद्धा होता है। वह किसी भी प्रकार के मानसिक या शारीरिक श्रम से पीछे नहीं हटता, चाहे वह परम प्रभु का साक्षात्कार हो या उनकी सेवा। वह किसी भी कार्य से मुँह नहीं मोड़ता, वह किसी भी थकावट से अवरुद्ध नहीं होता। वह सदैव ही उस राज्य को अपने अन्दर तथा जगत् में लाने के लिए युद्ध करता है।

पूर्ण 'आर्य' ही अर्हत् कहलाता है। एक परात्पर चेतना है जो विश्वातीत है जिसके कि ये सब लोक-लोकान्तर क्षुद्रातिक्षुद्र अंश-मात्र हैं। उस चेतना के लिए वह अभीप्सा करता है और उसे पा लेता है। एक चेतना है जो परात्पर होते हुए भी यह विश्व भी है और विश्व में जो कुछ है वह भी है। उस चेतना में वह अपने सीमित अहं को विस्तारित कर देता है, वह सब प्राणियों और निष्प्राण पदार्थों के साथ एकल आत्म-अभिज्ञता, प्रेम, आनन्द, सर्वव्यापी ऊर्जा के रूप में एक हो जाता है। एक चेतना है जो परात्पर और वैश्व दोनों है फिर भी कार्य के लिए, ज्ञान के विभिन्न दृष्टिकोणों के लिए, अपनी सृष्टियों के साथ प्रभु की लीला के लिए व्यक्तित्व की बाह्य सीमाओं को स्वीकार करती है, अहंकार वहाँ रहता है ताकि वह अन्ततः भागवत कर्म और भागवत लीला हेतु एक स्वतन्त्र केन्द्र के रूप में अपने-आपको बदल सके। उस सीमित चेतना को भी उसे पर्याप्त प्रेम, हर्ष और ज्ञान के साथ स्वीकार करना होता है और वह इतना समर्थ होता है कि वह उसे बदल सके। पूर्ण अर्हत् वह है जो जीवन की प्रतीत होती इन तीनों स्थितियों में एक साथ रह सकता है, निम्नतर को उच्चतर में उठा सकता है, उच्चतर को निम्न में ग्रहण कर सकता है जिससे जागतिक प्रतीक के रूप में उसका पूरी तरह प्रतिनिधित्व कर सके जिसके साथ अपने सभी भागों में वह एक हो चुका है—एक त्रिगुणित और त्र्यात्मक ब्रह्म।

CWSA खण्ड १३, पृ. ४४१-४४

श्रीअरविन्द

श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द

एक ही चेतना

श्रीमाँ की चेतना और मेरी चेतना के बीच का विरोध पुराने दिनों का आविष्कार था (जिसका कारण मुख्यतया 'क्ष', 'त्र' तथा उस समय के अन्य व्यक्ति थे)। यह विरोध उस समय पैदा हुआ जब आरम्भ में यहाँ रहने वाले लोगों में से कुछ श्रीमाँ को पूर्ण रूप से नहीं पहचानते थे या उन्हें स्वीकार नहीं करते थे। और फिर उन्हें पहचान लेने के बाद भी वे इस निरर्थक विरोध पर अड़े रहे और उन्होंने अपने-आपको और दूसरों को बड़ी हानि पहुँचायी। श्रीमाँ की और मेरी चेतना एक ही है, एक ही भागवत चेतना दोनों में है, क्योंकि लीला के लिए यह आवश्यक है। श्रीमाँ के ज्ञान और उनकी शक्ति के बिना, उनकी चेतना के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति सचमुच उनकी चेतना को अनुभव करता है तो उसे जानना चाहिये कि उसके पीछे मैं उपस्थित हूँ, और यदि वह मुझे अनुभव करता है तो वैसे ही श्रीमाँ भी मेरे पीछे उपस्थित होती हैं। यदि इस प्रकार भेद किया जाये (उन लोगों के मन इन चीजों को इतने प्रबल रूप में जो आकार दे देते हैं उन्हें तो मैं एक ओर ही छोड़े देता हूँ), तो भला सत्य अपने-आपको कैसे स्थापित कर सकता है—सत्य की दृष्टि से ऐसा कोई भेद नहीं है।

एक ही शक्ति

क्या आपके कार्य तथा श्रीमाँ के कार्य में कोई अन्तर है—मेरा मतलब है कि शक्ति की प्रभावकारिता में क्या कोई अन्तर है?

नहीं, यह एक ही शक्ति है।

*

निस्सन्देह तुम्हारा यह कहना सही है कि हम एक हैं और जो दिया जाता है वह हम दोनों की ओर से होता है। अगर मैं दूँ तो उसके साथ श्रीमाँ की शक्ति भी होती है, अन्यथा साधक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकेगा,

और अगर श्रीमाँ देती हैं तो मेरा सहारा उसके साथ होता है और उसके साथ मेरा तथा श्रीमाँ का प्रकाश भी होता है। यह एक अविभाज्य क्रिया के दो पहलू हैं, एक पहलू दूसरे को अपने अन्दर समाये रखता है। श्रीमाँ की शक्ति ही आगे बढ़ाती है, साथ ही उनकी शान्ति भी बनी रहती है।

*

व्यक्ति को जो कुछ श्रीमाँ से प्राप्त होता है, वह मुझसे भी प्राप्त होता है—कोई भेद नहीं है। उसी तरह, अगर मैं कुछ देता हूँ तो वह साधक के पास श्रीमाँ की शक्ति के द्वारा जाता है।

एक ही पथ

... श्रीमाँ की चेतना भागवत 'चेतना' है और उससे जो 'प्रकाश' निकलता है वह भागवत सत्य का प्रकाश है; वे जिस 'शक्ति' को नीचे उतार रही हैं वह भागवत 'सत्य' की शक्ति है। जो श्रीमाँ के प्रकाश को ग्रहण करता और स्वीकार करता तथा उसी में निवास करता है, वह सभी स्तरों पर—मानसिक, प्राणिक और भौतिक पर—सत्य को देखना प्रारम्भ कर देगा। जो कुछ अदिव्य है उसका वह त्याग कर देगा; अदिव्य है—मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्धकारमयी शक्तियों का प्रमाद; वह सब अदिव्य है जो धुँधला है, जो श्रीमाँ के 'सत्य', उनके प्रकाश और उनकी शक्ति को मानने को अनिच्छुक है। इसी कारण मैं तुमसे हमेशा कहता हूँ कि श्रीमाँ के तथा उनके 'प्रकाश' और उनकी 'शक्ति' के साथ सतत सम्पर्क में बने रहो, क्योंकि तभी तुम अस्तव्यस्तता और अन्धकार से बाहर निकल कर उस 'सत्य' को पा सकते हो जो ऊपर से उतरता है।

जब हम एक विशेष अर्थ में श्रीमाँ के 'प्रकाश' अथवा मेरे 'प्रकाश' की चर्चा करते हैं, हम एक विशेष गुह्य क्रिया की बात कर रहे होते हैं—हम अमुक ज्योतियों की बात करते हैं जो अतिमानस से आती हैं।

इस क्रिया में माँ का सफेद 'प्रकाश' होता है जो पवित्र करता, ज्योतिष करता, 'सत्य' के समस्त सारतत्त्व और शक्ति को उतार लाता है और रूपान्तर को सम्भव बनाता है। वस्तुतः जो भी सत्य ऊपर से अवतरित होता है, उच्चतम भागवत 'सत्य' से आता है, वह माँ का ही सत्य है। श्रीमाँ के

पथ और मेरे पथ में कोई अन्तर नहीं है। हम लोगों का पथ एक है और हमेशा एक ही रहा है, वह पथ जो अतिमानसिक रूपान्तर और भागवत सिद्धि की ओर ले जाता है। न केवल अन्त में, बल्कि आरम्भ से ही एक ही पथ रहा है। इस तरह के विभाजन और विरोध को रखने का प्रयास करना, यानी श्रीमाँ को एक ओर और मुझे दूसरी ओर—एकदम विपरीत या एकदम भिन्न तरफ़—रखना, यह तो हमेशा 'मिथ्यात्व' की शक्तियों की चालाकी रही है जब वे किसी साधक को सत्य तक पहुँचने से रोकना चाहती हैं। अपने मन से इन सभी मिथ्यात्वों को निकाल बाहर करो।

यह जानो कि श्रीमाँ का प्रकाश और शक्ति 'सत्य' का प्रकाश और शक्ति हैं; हमेशा श्रीमाँ के प्रकाश और शक्ति के सम्पर्क में बने रहो, तभी तुम भागवत सत्य में विकसित हो सकते हो।

*

मैंने पहले भी लिखा है कि माँ और मेरे बीच भेद करना और यह कहना कि हमारे भिन्न पथ हैं या हमारे भिन्न लक्ष्य हैं—एकदम से भ्रान्तिपूर्ण है। हमारा पथ समान है; हमारा लक्ष्य भी समान है—वह है, अतिमानसिक भगवान्।

*

श्रीअरविन्द के बारे में जानने या उनसे मिलने से पूर्व श्रीमाँ योग कर रही थीं, और उनकी साधना की रूप-रेखाएँ स्वतन्त्र रूप से किन्तु एक ही नीति का अनुगमन कर रही थीं। जब वे मिले तब उन्होंने साधना को पूर्ण बनाने में एक-दूसरे की सहायता की। जिसे श्रीअरविन्द का योग कहा जाता है वह श्रीअरविन्द और श्रीमाँ का संयुक्त सृजन है। वे अब पूर्ण रूप से तदात्म हैं—आश्रम में साधना तथा समस्त व्यवस्था सीधे श्रीमाँ के द्वारा की जाती है, श्रीअरविन्द पीछे से उन्हें अवलम्ब देते हैं। जो यहाँ योग-साधना के लिए आते हैं उन सबको श्रीमाँ को आत्म-समर्पण करना पड़ता है, और वे हमेशा उनकी सहायता करती हैं तथा उनके आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करती हैं।

कोई हीनतर या कोई महानतर नहीं है

मैं भगवान् को आत्मा के रूप में हर जगह देखता हूँ, और वे मुझे अपनी ओर खींचते रहते हैं। वे सबकी आत्मा और सबके स्वामी हैं। मुझे लगता है कि वे श्रीमाँ से महानतर हैं। मुझे लगता है कि वे वह भगवान् हैं जिसने मेरे पिता—श्रीअरविन्द—में मूर्त रूप ले लिया है।

यह भगवान् का एक पहलू है—लेकिन आत्मारूपी भगवान् और प्रभु तथा माँ के रूप में भगवान् एक ही हैं—कोई हीनतर या कोई महानतर नहीं है।

यहाँ पर कुछ लोग आपको माताजी से महानतर क्यों मानते हैं? क्या आप दोनों समान स्तर से नहीं हैं? क्या मनुष्य की आँखों पर एक परदा नहीं पड़ा है जो इस तरह के भेद करता है?

ये वे मन हैं जो केवल सतही चीजों को देखते हैं और उनके पीछे क्या है यह नहीं देख पाते।

*

दो शरीरों में एक

माताजी और मैं एक ही हैं पर दो शरीरों में; यह आवश्यक नहीं है कि दोनों शरीर सदा एक ही काम करें। इसके विपरीत, क्योंकि हम एक ही हैं, एक का ही हस्ताक्षर करना बिलकुल पर्याप्त है, जिस प्रकार प्रणाम ग्रहण करने या ध्यान कराने के लिए एक का ही नीचे जाना सर्वथा पर्याप्त है।

*

मैं और श्रीमाँ एक और समान हैं। और साथ ही वे यहाँ परमा हैं और उनका अधिकार है कि वे कार्य के लिए जो उत्तम समझती हैं उस तरह कार्य की व्यवस्था करें। वे जो भी कार्य दें उस पर किसी को अपना अधिकार जमाने, किसी भी तरह का दावा करने या अपना स्वामित्व जताने का हक नहीं। आश्रम माँ की सृष्टि है और उनके बिना इसका कभी अस्तित्व नहीं होता। वे जो कार्य कर रही हैं वह उनका अपना सर्जन है, उन्हें वह दिया

नहीं गया है और उनसे वह लिया नहीं जा सकता। अगर तुम्हारे अन्दर श्रीमाँ के साथ उचित सम्बन्ध बनाने और उनके प्रति उचित मनोवृत्ति रखने की इच्छा है तो इस प्राथमिक और मूलभूत सत्य को समझने का प्रयास करो।
CWSA खण्ड ३२, पृ. ७९-८३

श्रीअरविन्द-आश्रम का प्रारम्भ

पहले कोई आश्रम न था, कुछ लोग श्रीअरविन्द के पास रहने आये और योगाभ्यास करने लगे। वह तो जब श्रीमाँ जापान से वापस आयीं उसके कुछ समय बाद आश्रम ने रूप लेना शुरू किया, अधिक तो यह उन साधकों की इच्छा के कारण शुरू हुआ जिन्होंने अपना समस्त आन्तरिक और बाह्य जीवन श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द के चरणों में समर्पित करने का संकल्प कर लिया था।...

फ्रांस और जापान में बहुत समय रहने के बाद माँ २४ अप्रैल १९२० को पॉण्डिचेरी लौट आयीं। उस समय तेज़ी से शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। जब आश्रम का इस तरह विकास होने लगा तो माँ के ऊपर उसके कार्य-भार, उसकी व्यवस्था का ज़िम्मा आ गया; शीघ्र ही श्रीअरविन्द एकान्त में चले गये और आश्रम का समस्त भौतिक और आध्यात्मिक विकास श्रीमाँ की देख-रेख में होने लगा।
CWSA खण्ड ३६, पृ. १०२-०३

समर्पण का सारतत्त्व है, भागवत प्रभाव और पथ-प्रदर्शन को पूरे हृदय से स्वीकार करना, जब आनन्द और शान्ति उतरें तब उन्हें बिना सन्देह या कुतर्क के स्वीकार करना और उन्हें वर्धित होने देना; जब दिव्य शक्ति काम करती हुई अनुभूत हो तो बिना विरोध उसे काम करने देना, जब सच्चा ज्ञान दिया जाये तब उसे ग्रहण करना और उसका अनुसरण करना, जब भागवत संकल्प प्रकट हो तो उसका यन्त्र बन जाना।

भगवान् पथ दिखा सकते हैं, पर वे चलने को बाध्य नहीं करते। 'मनुष्य' नामधारी प्रत्येक मनोमय प्राणी को यह आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है कि वह चाहे तो भागवत पथ-प्रदर्शन को स्वीकार करे या न करे, अन्यथा किस प्रकार कोई सच्चा आध्यात्मिक विकास साधित हो सकता है भला?

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द की शिक्षा

श्रीअरविन्द की शिक्षा प्राचीन ऋषियों की इस शिक्षा से शुरू होती है कि इस जगत् में जो रूप और आकार दिखलायी देते हैं उनके पीछे एक परम सत्ता और परम चेतना का सच्चा स्वरूप है, सभी चीज़ों में, सभी प्राणियों में एक अद्वितीय तथा शाश्वत आत्मा है, लेकिन, चूँकि मनुष्य उसके प्रति सचेतन नहीं है इसलिए वह अपने मन, प्राण और शरीर को अलग-अलग मानता है, किन्तु साधना के द्वारा विभेद करने वाले इस परदे को हटा कर मनुष्य अपने सच्चे स्व, अपने अन्दर, और सबके अन्दर आसीन भगवान् के दर्शन कर सकता है, उन्हें जान सकता है।

श्रीअरविन्द की शिक्षा यह कहती है कि 'एक सत्ता' और 'एक चेतना' यहाँ जड़तत्त्व में छिपी हुई है और विकास की प्रक्रिया के द्वारा अपने-आपको मुक्त करती है। जो कुछ निश्चेतन मालूम होता है उसमें चेतना दिखलायी देती है और जब एक बार चेतना प्रकट हो जाती है तो उसके बाद वह अपने-आप ही अधिकाधिक ऊँची उठती जाती है और साथ ही अधिकाधिक पूर्णता की ओर बढ़ती और विकसित होती जाती है। चेतना की इस उन्मुक्ति की पहली अवस्था है प्राण, दूसरी है मन, लेकिन मन तक आकर ही चेतना का ऊपर उठना बन्द नहीं हो जाता; मन किसी और बड़ी चीज़ के अन्दर, एक आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना के अन्दर जा मिलने की प्रतीक्षा कर रहा है, इसलिए विकास का अगला क्रम होगा—सचेतन सत्ता में अतिमानस की ओर बढ़ना, मन की जगह आत्मा का सर्वोपरि शक्ति बनना और केवल उसी अवस्था में सभी वस्तुओं, सभी प्राणियों के अन्दर विराजमान ईश्वर स्वयं को पूरी तरह से बाहर प्रकट करेंगे और तब जीवन पूर्णता को प्रकट करने में समर्थ होगा।

लेकिन जहाँ प्रकृति ने विकास के पहले क्रम पौधों और पशुओं में कोई सचेतन इच्छा हुए बिना ही आगे बढ़ाये थे, वहाँ मनुष्यों में आकर वह अपने यन्त्र—यानी मनुष्यों—की सचेतन इच्छा-शक्ति की सहायता से विकसित होने के योग्य हो जाती है। परन्तु मनुष्य की केवल मानसिक इच्छा-शक्ति की सहायता से ही पूरी तरह से यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि मन कुछ दूर तक ही जाता है और उसके बाद बस गोल-गोल चक्कर काटता

है। एक बड़ा परिवर्तन बहुत जरूरी है, यानी, चेतना का पूरी तरह पलट जाना अत्यन्त आवश्यक है ताकि मन एक उच्चतर तत्त्व में बदल जाये। प्राचीन काल में बतलाया जाता था कि उच्चतर तत्त्व की ओर जाने के लिए सबसे अच्छा तरीका है कि इस संसार से अलग होकर आत्मा की उच्चता में प्रवेश कर उसे पाने की कोशिश करना।

लेकिन श्रीअरविन्द की शिक्षा हमें बतलाती है कि यह सम्भव है कि उच्चतर तत्त्व इस धरती पर नीचे उतर आये और तब वह मन के अज्ञान या इसके अत्यन्त सीमित ज्ञान के स्थान पर अतिमानसिक सत्य-चेतना को प्रतिष्ठित कर दे, और तभी मनुष्य अपनी पशुता से भरी मनुष्यता से निकल कर एक दिव्य जाति में रूपान्तरित हो सकेगा। इसी उद्देश्य को पाने के लिए योग तथा साधना का उपयोग किया जा सकता है। अपनी सत्ता के सभी अंगों को उद्घाटित कर और उच्चतर तथा अब तक छिपे हुए अतिमानस-तत्त्व के अवतरण तथा उसकी क्रिया की सहायता से परिवर्तन या रूपान्तर लाकर इस उद्देश्य को सिद्ध किया जा सकता है।

योग की प्रक्रिया

परन्तु यह कार्य एकदम या थोड़े समय में या किसी तेज़ या चमत्कारपूर्ण रूपान्तर के द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। साधक को बहुत से स्तर पार करने होते हैं और तब कहीं जाकर अतिमानस का अवतरण सम्भव होता है। साधारण तौर पर अधिकांश में मनुष्य अपने सतही मन, प्राण और शरीर में ही रहता है, लेकिन उसके अन्दर एक महान् आन्तरिक सत्ता भी है जो बहुत-सी सम्भावनाओं से भरी है और अपनी इस आन्तर सत्ता के बारे में ही उसे सचेतन होना है। अभी तक उस सत्ता का अत्यन्त सीमित प्रभाव ही मनुष्य ग्रहण करता है और वही उसे सदा एक महानतर सौन्दर्य, सामञ्जस्य, शक्ति और ज्ञान की खोज में लगाये रहता है। अतः, योग की पहली प्रक्रिया है, इस आन्तरिक सत्ता के सभी क्षेत्रों को खोल देना और वहाँ रहते हुए बाहरी जीवन बिताना, एक आन्तरिक ज्योति और शक्ति की सहायता से अपने बाहरी जीवन को नियन्त्रित करना। जब मनुष्य ऐसा करता है तो इसके फलस्वरूप वह अपने अन्दर अपनी सच्ची अन्तरात्मा को प्राप्त करता है, जो मन, प्राण तथा शरीर के इस बाहरी मिश्रण का परिणाम

नहीं बल्कि इनके पीछे की कोई 'वास्तविकता' होती है, लेकिन जो छिपी बैठी है इन सबके पीछे परम सद्बस्तु के रूप में। यही है अद्वितीय भागवत अग्नि की एक चिनगारी। मनुष्य को अपनी इस अन्तरात्मा में निवास करना सीखना होगा और अन्तरात्मा का सत्य की ओर जो प्रवेग है उसके द्वारा अपनी बाक्री प्रकृति को शुद्ध करना तथा उसे भी लक्ष्य की ओर मोड़ना होगा। उसके बाद फिर उसका आधार ऊपर की ओर खुल सकता है और उसके अन्दर दिव्य सत्ता का एक उच्चतर तत्त्व अवतरित हो सकता है। परन्तु इतना होने पर भी एकदम से पूर्ण अतिमानसिक ज्योति तथा शक्ति का अवतरण नहीं होता; क्योंकि साधारण मानव मन और अतिमानसिक सत्य-चेतना के बीच चेतना के बहुत-से स्तर हैं।

इन बीच के स्तरों या भूमिकाओं को भी खोलना होगा और उनकी शक्ति को मन, प्राण तथा शरीर में उतारना होगा। ऐसा कर लेने के बाद ही अतिमानसिक सत्य-चेतना की पूर्ण शक्ति मनुष्य के अन्दर कार्य कर सकती है। अतः, इस आत्मानुशासन या साधना की प्रक्रिया लम्बी और कठिन है, लेकिन इसका थोड़ा-सा भी अंश यदि जीवन में उतारा जाये तो वह बहुत लाभदायक होता है क्योंकि उससे धीरे-धीरे लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होता है। अतः, हम कह सकते हैं कि लक्ष्य तक पहुँचने के लिए पहला पाठ है—अपनी सभी क्रियाओं को सचेतन होकर करने का प्रयास करना और अपनी सच्ची आन्तरिक पुकार के दिग्दर्शन में चलना।

प्राचीन योग-पद्धतियों की कई बातें अनिवार्य

प्राचीन योग-पद्धतियों में ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जिनकी इस पथ में भी आवश्यकता होती है—जैसे एक महत्तर विशालता की ओर तथा उस 'आत्मा' और 'अनन्त' की अनुभूति की ओर अपने मन को खोलना जिसे विश्व-चेतना कहा जाता है; उसमें प्रवेश कर वासनाओं तथा षड्रिपुओं पर प्रभुत्व स्थापित करना। हमारे योग में बाह्य तपस्या आवश्यक नहीं है, लेकिन कामना-वासना और आसक्ति पर विजय प्राप्त करना तथा शरीर और उसकी आवश्यकताओं को, उसकी लालसाओं और अन्ध-प्रेरणाओं पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

इस मार्ग में प्राचीन योग-पद्धतियों की सभी मूल बातों का समावेश

किया गया है—जैसे, ज्ञानमार्ग का—मन के द्वारा सद्वस्तु और बाह्य रूप के बीच विवेक करना; हृदयमार्ग का—भक्ति, प्रेम और आत्म-समर्पण करना; कर्ममार्ग का—अपनी इच्छाओं को स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से हटा कर सत्य की ओर लगाना, अपने अहं से बड़ी दिव्य सद्वस्तु की सेवा में लगाना इत्यादि। इस मार्ग में अपनी सारी सत्ता को इस प्रकार तैयार करना है कि जब महत्तर 'ज्योति' तथा 'शक्ति' के लिए हमारी प्रकृति के अन्दर क्रिया करना सम्भव हो तब हमारी सारी सत्ता उनकी क्रिया को प्रत्युत्तर दे सके तथा रूपान्तरित हो सके।

गुरु की भूमिका

इस साधना में गुरु की प्रेरणा तथा कठिन अवस्थाओं में उनका नियन्त्रण और उनकी उपस्थिति आवश्यक है। उनके अभाव में पथ पर बहुत ठोकें खाने तथा भूलें करने की बड़ी सम्भावना बनी रहती है। गुरु वे हैं जो उच्चतर चेतना तथा सत्ता को प्राप्त कर चुके हैं। उन्हें बहुधा उस चेतना और सत्ता का व्यक्त रूप या प्रतिनिधि माना जाता है। वे केवल अपनी शिक्षा द्वारा और उससे भी अधिक अपने प्रभाव तथा उदाहरण के द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचा सकने के द्वारा भी सहायता करते हैं।

संक्षेप में

यही संक्षेप में श्रीअरविन्द की शिक्षा तथा उनकी साधना-पद्धति है। किसी एक धर्म-विशेष को उन्नत करना, अथवा प्राचीन धर्मों को एक साथ मिला देना या कोई नया धर्म प्रचलित करना उनका उद्देश्य नहीं है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक चीज़ उनके मुख्य उद्देश्य से दूर हटा ले जायेगी। उनके योग का एकमात्र उद्देश्य है, आन्तरिक आत्म-विकास—जिसके द्वारा इस योग का प्रत्येक साधक यथासमय सभी में स्थित अद्वितीय आत्मा को प्राप्त कर सके तथा अपने अन्दर मानसिक चेतना से उच्चतर एक ऐसी चेतना को, एक ऐसी आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना को विकसित कर सके जो मानव-प्रकृति को रूपान्तरित करके दिव्य बना दे।

CWSA खण्ड ३६, पृ. ५४७-५०

श्रीअरविन्द

आरोहणशील क्रमविकास

प्रकृति में एक आरोहणशील क्रमविकास है जो पत्थर से पौधे में और पौधे से पशु में तथा पशु से मनुष्य में उठता है। चूँकि अभी तक मनुष्य ही इस आरोहणशील क्रमविकास के शिखर की अन्तिम सीढ़ी है, वह समझता है कि इस आरोहण में वही सबसे ऊँचा स्तर है और यह मानता है कि धरती पर उससे ऊँचा कुछ हो ही नहीं सकता। लेकिन यह उसकी भूल है। अपनी भौतिक प्रकृति में वह अभी तक लगभग पूरा-पूरा पशु है, एक विचारशील और बोलने वाला पशु, अपने भौतिक अभ्यासों और सहज बोधों में वह पशु ही है। निःसन्देह, प्रकृति ऐसे अपूर्ण परिणामों से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह एक ऐसी सत्ता को लाने के लिए प्रयत्नशील है जो मनुष्य की तुलना में वैसा ही होगा जैसा मनुष्य पशु की तुलना में, वह ऐसी सत्ता होगी जो अपने बाहरी रूप में तो मनुष्य ही होगी, लेकिन जिसकी चेतना मन तथा इसके अज्ञान की दासता से बहुत ऊँची उठ जायेगी।

श्रीअरविन्द धरती पर मनुष्य को यही सत्य सिखाने के लिए आये थे। उन्होंने कहा कि मनुष्य केवल एक संक्रमणशील सत्ता है जो मानसिक चेतना में निवास करता है, लेकिन उसमें एक नयी चेतना, 'सत्य-चेतना' प्राप्त करने की सम्भावना है। वह पूरी तरह सामञ्जस्यपूर्ण, शिव और सुन्दर, सुखी और पूर्णतः सचेतन जीवन जीने के योग्य होगा। अपने सारे पार्थिव जीवन में श्रीअरविन्द ने अपना पूरा समय अपने अन्दर उस चेतना को स्थापित करने में लगाया जिसे उन्होंने अतिमानस का नाम दिया है, और जो लोग उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे थे उन्हें सहायता दी कि वे भी इसे पा सकें।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२, पृ. १२७

धरती का अद्भुत रूपान्तर

श्रीअरविन्द का काम है धरती का अद्भुत रूपान्तर।

मन के ऊपर सचेतन सत्ता के कई स्तर हैं, उनमें वास्तविक दिव्य जगत् वह है जिसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं, यह 'सत्य' का जगत् है। लेकिन बीच में वैश्व देवताओं का जगत् है जिसे श्रीअरविन्द अधिमानस कहते हैं। अभी तक हमारे संसार पर अधिमानस का राज्य रहा है : ज्योतिर्मयी चेतना में यही सबसे ऊँचा स्तर है जहाँ तक मनुष्य पहुँच पाया है। इसी

को परम प्रभु मान लिया गया और जो लोग वहाँ पहुँचे उन्होंने क्षण-भर के लिए भी उसके परम सत्य-चेतना होने में शंका नहीं की। क्योंकि, साधारण मानव-चेतना के लिए उसकी भव्यता और उसकी दीप्तियाँ इतनी महान् हैं कि वह उन्हें देख कर चौंधिया जाता है और मान लेता है कि अन्ततः यही सत्य का शिखर है। लेकिन तथ्य यह है कि अधिमानस सच्चे भगवान् से बहुत नीचे है। यह 'सत्य' का स्वधाम नहीं है। यह केवल निर्माताओं का और उन सर्जक शक्तियों और देवों का लोक है जिनके आगे लोग इतिहास के आरम्भ से झुकते आये। और वास्तविक भगवान् के अभिव्यक्त न होने और पार्थिव प्रकृति को रूपान्तरित न करने का ठीक यही कारण है कि अधिमानस को अतिमानस माना जाता रहा है। वैश्व देवता पूरी तरह 'सत्य चेतना' में नहीं रहते : वे केवल उसके साथ सम्पर्क में होते हैं और उनमें से हर एक उसकी महिमा के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

निःसन्देह, जगत् के इतिहास में अतिमानस ने भी क्रिया की है, परन्तु हमेशा की है अधिमानस के द्वारा ही। जीवन को 'आत्मा' के अर्थों में केवल अतिमानसिक चेतना और शक्ति का अवतरण ही पूरी तरह से नया रूप दे सकता है, क्योंकि अधिमानस में सम्भावनाओं का खेल शुरू हो जाता है जो 'मन', 'प्राण' और 'जड़' के निचले त्रिविध जगत् का आरम्भ है जिसमें हम रहते हैं। और जहाँ कहीं सहज 'सत्य' और 'आत्मा' की स्वाभाविक अमोघ क्रिया नहीं बल्कि यह खेल होता है वहीं विकृति और अविद्या का बीज होता है। अधिमानस अविद्या का क्षेत्र तो नहीं है, लेकिन वह 'उच्च' और 'निम्न' के बीच की सीमा-रेखा है; क्योंकि, सम्भावनाओं की लीला अभी तक विभक्त न सही पर पृथक् चुनाव की सम्भावना वस्तुओं के 'सत्य' से भटकने को सम्भव बना देती है।

इसलिए, अधिमानस में मानव को दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित करने की क्षमता न तो हो सकती है, न है। उसके लिए अतिमानस ही एकमात्र साधन है। जो चीज़ जीवन को अध्यात्म बनाने के प्राचीन काल के प्रयासों से हमारे योग को अलग करती है वह यही है कि हम जानते हैं कि अधिमानस की दीप्तियाँ उच्चतम सत्य नहीं, मन और सच्चे भगवान् के बीच केवल एक अन्तर्वर्ती क्रदम है।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. १८४-८५

पृथ्वी पर एक नयी सृष्टि

यह जानने के लिए कि 'अतिमानसिक उपलब्धि' (एक नयी सृष्टि) क्या है पहला क़दम, पहली शर्त यह है कि हमें यह मालूम हो कि अतिमानसिक चेतना क्या है। जिनका, किसी-न-किसी रूप में, उसके साथ सम्पर्क हुआ है उन्हें उस उपलब्धि की कुछ झाँकी मिली है। लेकिन जिन्हें झाँकी नहीं मिली है वे भी अतिमानसिक उपलब्धि के लिए अभीप्सा कर सकते हैं जैसे वे अतिमानसिक ज्ञान के लिए अभीप्सा करते हैं। सच्चे ज्ञान का मतलब है तादात्म्य के द्वारा जानना : तुम अतिमानसिक अवतरण के बारे में तभी कुछ कह सकते हो जब तुम्हारा अतिमानसिक जगत् के साथ सम्पर्क हो जाये, उससे पहले नहीं। उससे पहले तुम बस यही कह सकते हो कि धरती पर एक नयी सृष्टि होगी; यह बात तुम श्रद्धा के आधार पर ही कह सकते हो, क्योंकि उसका असली स्वरूप तुम्हें नहीं मालूम होता। और अगर तुमसे पूछा जाये कि सिद्धि क्या है तो तुम कह सकते हो कि, व्यक्तिगत रूप से, उसका अर्थ है साधारण मानव चेतना का दिव्य अतिमानसिक चेतना में रूपान्तर।

चेतना एक सोपान की तरह है : हर बड़े युग में एक महान् व्यक्ति हुआ जो सीढ़ी में एक डण्डा और बढ़ा सकता था और इतनी ऊँचाई पर पहुँच सकता था जहाँ तक साधारण चेतना पहले कभी नहीं पहुँची। एक ऊँचे स्तर को प्राप्त करके भौतिक चेतना की पहुँच से एकदम बाहर जाना सम्भव है; लेकिन तब सीढ़ी बनी नहीं रहती, जब कि महान् युगों की महान् उपलब्धियाँ वे हैं जिन्होंने भौतिक से नाता तोड़े बिना सोपान पर एक और सीढ़ी लगायी है। 'उच्चतम' तक पहुँचने की क्षमता और साथ-ही-साथ शिखर का निचली सतह के साथ सम्बन्ध जोड़ना महान् उपलब्धि है, न कि अलग-अलग स्तरों, लोकों के सम्बन्ध काट कर बीच-बीच में ख़ालीपन को आने देना। ऊपर और नीचे जाना, उच्चतम का निम्नतम से नाता जोड़ना ही सिद्धि या उपलब्धि का परम रहस्य है, और यही अवतार का काम है। जब-जब अवतार सोपान में एक नयी सीढ़ी जोड़ता है तब-तब धरती पर एक नयी सृष्टि जन्म लेती है...। अब जो सीढ़ी जोड़ी जा रही है उसे श्रीअरविन्द ने 'अतिमानस' का नाम दिया है; उसके परिणामस्वरूप, चेतना अतिमानसिक लोक में प्रवेश पा सकेगी और फिर भी अपना व्यक्तिगत

रूप रख सकेगी और फिर यहाँ लौट कर एक नयी सृष्टि स्थापित करेगी, निश्चय ही यह अन्तिम सीढ़ी नहीं है, इसके ऊपर सत्ता की और भी श्रेणियाँ हैं; लेकिन अभी हम अतिमानस को नीचे लाने के प्रयास में लगे हैं ताकि संसार का पुनर्गठन कर सकें, ताकि जगत् को सच्ची दिव्य व्यवस्था में वापस ला सकें। यह तत्त्वतः व्यवस्था की एक सृष्टि होगी, हर चीज़ अपने सच्चे स्थान पर होगी; इस समय जो शक्ति क्रियाशील है वह है महासरस्वती—पूर्ण व्यवस्था की देवी।

अविच्छिन्नता प्राप्त करने का काम, जो ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने की क्षमता देता है और जो ऊपर है उसे नीचे भौतिक में लाता है, चेतना के अन्दर किया जाता है। अवतार यह काम करने के लिए आता है। अगर उसे कारागार में बन्द कर दिया जाये, न वह किसी से मिले-जुले और न कहीं हिले-डुले, फिर भी वह कार्य करता रहेगा, क्योंकि यह चेतना के अन्दर का काम है, अतिमानस और भौतिक सत्ता को जोड़ने का काम है। उसे पहचाने जाने की ज़रूरत नहीं होती, यह सचेतन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसे किसी बाहरी शक्ति की ज़रूरत नहीं होती। लेकिन, एक बार सम्बन्ध स्थापित हो जाये तो बाहरी जगत् पर उसका प्रभाव नव सर्जन के रूप में अवश्य होगा जो एक आदर्श नगरी से लेकर पूर्ण जगत् तक पहुँचेगा।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. १८८-९०

मैं शिष्यों को जल्दी से स्वीकार नहीं करता, क्योंकि योग का यह मार्ग कठिन है और इसका अनुसरण करना तभी सम्भव है यदि व्यक्ति के अन्दर विशेष पुकार हो।

*

यदि वह मेरे योग को स्वीकार करना चाहता है तो उसकी शर्तें हैं—दृढ़ निश्चय, जिस सत्य को मैं नीचे उतार रहा हूँ उसके लिए अभीप्सा, शान्त निष्क्रियता तथा जिस उद्गम से प्रकाश आ रहा है उसकी ओर उद्घाटन। उसके अन्दर शक्ति पहले से ही कार्य कर रही है और यदि वह इस मनोभाव को ग्रहण करे तथा निरन्तर बनाये रखे और मेरे ऊपर उसका पूर्ण विश्वास हो तो कोई कारण नहीं कि वह साधना में सुरक्षित रूप से अग्रसर न हो।

श्रीअरविन्द

अवतार

अवतार का व्यक्तिगत उदाहरण

क्या कोई बुहारने वाला या सड़क का भिखारी किसी बुद्ध या चैतन्य में परिवर्तित हुआ है?

इसमें यह प्रश्न भी समाहित है—क्या मनुष्य अपने उस चरित्र और गुणों से बँधा होता है जिनके साथ वह इस जीवन में, संसार में आता है—क्या योग के द्वारा वह नूतन मनुष्य नहीं बन सकता? इसे भी मैंने अपनी साधना में सिद्ध कर दिया है कि ऐसा किया जा सकता है। जब तुम यह कहते हो कि मैं ऐसा इसलिए कर पाया, क्योंकि मेरा मामला ही अलग है, कि मैं एक अवतार (!) हूँ और यह कि और किसी भी मामले में यह असम्भव है तो तुम मेरी साधना को एकदम असंगत ठहरा देते हो और अवतारवाद को भी एकदम नीचे निरर्थकता तक उतार देते हो। क्योंकि मेरा योग मेरे अपने लिए नहीं किया जा रहा है, मुझे किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं, मुझे कोई मुक्ति या और कुछ नहीं चाहिये, बल्कि यथार्थतः यह पृथ्वी की चेतना के लिए किया जा रहा है, पार्थिव चेतना को बदलने के लिए एक पथ को खोला जा रहा है। क्या भगवान् को यह सिद्ध करने के लिए कि वे यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं, नीचे उतरना होगा या क्या यह कि ऐसा करने के पीछे उनकी कोई व्यक्तिगत आवश्यकता है? तुम्हारा तर्क यह सिद्ध करता है कि मैं अवतार नहीं बल्कि एक बड़ा आदमी हूँ। तथ्यतः ऐसा हो सकता है, लेकिन तुम अपने तर्क का आरम्भ दूसरे आधार पर कर रहे हो। और फिर, चलो मैं केवल एक बड़ा मानव हूँ, जो मैंने प्राप्त किया है वह यह दिखलाता है कि इस उपलब्धि को प्राप्त करना मानवता के लिए भी सम्भव है। सड़क का कोई भिखारी इसे कर सकता है या उसने किया हो, ये सब गौण बातें हैं। यह काफ़ी है कि दूसरे, जो आर्थिक दृष्टि से इतने अभागे, यानी रास्ते के भिखारी नहीं हैं, इसे कर सकें।

मानवता के सारे इतिहास-काल में हम केवल एक ईसामसीह, एक बुद्ध, एक कृष्ण, एक श्रीअरविन्द और एक ही श्रीमाँ को देखते हैं।

क्या कभी भी यह नियम टूटा है? चूँकि ऐसा कभी नहीं हुआ, अतः
ऐसा हो ही नहीं सकता।

वाह, कितना अद्भुत तर्क है! चूँकि ऐसा कभी नहीं हुआ इसलिए ऐसा कभी
हो ही नहीं सकता! इस तरीके से तो सारी धरती के इतिहास को आदिरूप
या जीवद्रव्य के आने के बहुत पहले ही रुक जाना चाहिये था। जब धरती
मात्र विभिन्न गैसों की राशि थी, किसी जीवन का जनम नहीं हुआ था,
इसलिए जीवन का प्रारम्भ हो ही नहीं सकता था—या जब केवल जीवन
था, मन का आविर्भाव नहीं हुआ था, इसलिए मन का जनम हो ही नहीं
सकता था। अब चूँकि मन आ गया है, इसके परे कुछ नहीं है, चूँकि किसी
में भी अतिमानस की अभिव्यक्ति नहीं हुई है, इसलिए अतिमानस का जन्म
कभी हो ही नहीं सकता। सुबहान अल्लाह! धन्य है, धन्य है, बलिहारी है
मानव-तर्क की!! सौभाग्यशाली हैं हम कि भगवान् या वैश्व आत्मा अथवा
परमा प्रकृति, या वह जो भी हो, मानव-तर्कबुद्धि की रत्ती-भर परवाह नहीं
करते। प्रकृति माता या वे भगवान् वही करते हैं जो उन्हें करना है, भले
मनुष्य सोचता रहे कि ऐसा किया जा सकता या नहीं किया जा सकता था।

अवतार रास्ता सुझाते हैं

मेरे और श्रीमाँ के बारे में—ऐसे भी लोग हैं जो कहते हैं, “अगर
अतिमानस को उतरना है तो वह प्रत्येक में उतर सकता है, क्यों उन्हीं में
सबसे पहले अवतरित होगा? उनसे पहले हम उसे क्यों नहीं पा सकते? क्यों
उन्हीं की मार्फत हम उसे पायें, सीधा नहीं?” बहुत तर्कसंगत, युक्तिमूलक
और बहस करने-लायक लगती है बात। मुश्किल बस यही है कि ये सारे
तर्क-वितर्क करने वाले इसकी अवस्थाओं या यह कहें कि इसकी शर्तों को
नज़रअन्दाज़ कर देते हैं, मूर्खतावश यह मान बैठते हैं कि अतिमानस क्या
है इसका तिल-भर भी ज्ञान पाये बिना वे अपने अन्दर अतिमानस को उतार
ला सकते हैं और ऐसा सोचते हैं कि एकदम से कोई अजूबा चमत्कार घटि
त हो जायेगा—वह हर एक जो इसकी कोशिश करता है, अपने-आपको
बहुत ही भयंकर खाई में पाता है—अब तक जिन्होंने इसकी कोशिश की
है, ऐसा ही परिणाम आया है। यह तो व्यक्ति का ऐसा सोचना हुआ कि उसे

पथ-प्रदर्शक का अनुसरण करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, वह तो अपनी ही पतली पगडण्डी के किनारे-किनारे चलता-चलता—जिसके दोनों तरफ़ भयानक खाई है—अन्त में हवा में एक छल्लाँग लगा, पर्वत-शिखर पर जा पहुँचेगा। इसका परिणाम तो स्पष्ट ही है।

*

आपकी यह बात मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आती कि जो आप सिद्ध करते हैं उसे उपलब्ध करना मानवजाति के लिए सम्भव है, आपकी प्राप्तिyaँ दूसरों के पथ-प्रदर्शन के लिए रास्ता खोल देती हैं।

अजीब है, इतनी सरल-सी बात तुम समझ नहीं पा रहे ! मेरे अन्दर आरम्भ में आध्यात्मिकता की ओर कोई झुकाव नहीं था, मैंने आध्यात्मिकता को विकसित किया। मैं तत्त्वमीमांसा को समझने में असमर्थ था, मैंने अपने अन्दर एक दार्शनिक को विकसित किया। चित्रकारी के ककहरा का भी मुझे ज्ञान नहीं था—योग के द्वारा मैंने उसे विकसित किया। मैंने अपनी प्रकृति को जो वह थी उससे बदल कर वह बनाया जो वह आज है। मैंने यह सब किसी चमत्कार द्वारा नहीं, विशेष रीति को अपना कर किया और मैंने यह सब यह दिखलाने के लिए किया कि क्या-क्या किया जा सकता है और उसे करने की विधि भी दर्शायी। मैंने यह अपनी किसी व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए या किसी प्रक्रिया के बिना, चमत्कार के द्वारा नहीं किया। मैं कहता हूँ कि अगर यह बात सही नहीं है तो मेरा योग व्यर्थ है और मेरा जीवन एक भूल—बिना किसी अर्थ या परिणाम के बस प्रकृति की एक निरर्थक सनक। लगता है कि तुम सब यही सोचते हो कि जब तुम यह कहते हो कि जो मैंने किया उसकी मेरे सिवाय और किसी के लिए मान्यता नहीं है तो तुम मुझे बधाइयों से लाद देते हो—यह कहना तो मेरे कार्य के प्रति सबसे अधिक हानि पहुँचाने वाली आलोचना है।

अवतार का जीवन तथा चमत्कार

व्यावहारिक रूप से जो मैं जानता हूँ वह यह है कि जब मैंने कार्य प्रारम्भ किया तब मेरे अन्दर सभी आवश्यक शक्तियाँ नहीं थीं, मुझे उन्हें योग के द्वारा विकसित करना पड़ा, कम-से-कम कई ऐसी थीं जिनका,

मेरे योग शुरू करने के समय अस्तित्व ही नहीं था, और जो थीं उन्हें उच्चतर श्रेणी में पहुँचाने के लिए मुझे प्रशिक्षित करना पड़ा। इस मामले में मेरा अपना विचार यह है कि अवतार का जीवन और उसकी क्रिया कोई चमत्कार नहीं होते, और अगर होते तो उसका अस्तित्व में आना पूरी तरह से व्यर्थ होता, प्रकृति की मात्र एक सतही सनक ही होती। अवतार पार्थिव शक्तों को स्वीकार करता है, उन्हीं साधनों का उपयोग करता है, वह मानवता को रास्ता दिखलाता तथा उनकी सहायता करता है। वरना उसका क्या प्रयोजन और वह पृथ्वी पर उतरे ही क्यों भला?

*

मैंने अवतार के बारे में जो लिखा उसकी याद तुम्हें दिला दूँ। अवतारवाद के दो पहलू हैं, पृष्ठभूमि में 'भागवत चेतना' तथा सहायक व्यक्तित्व। 'भागवत चेतना' सर्वसमर्थ है, लेकिन 'प्रकृति' की शक्तों के अधीन रहते हुए उसने सहायक व्यक्तित्व को 'प्रकृति' में सम्मुख रखा है, और वह लीला के नियमों का पालन करती है—यद्यपि कभी-कभी वह खेल के नियमों में परिवर्तन भी ले आती है। अगर अवतारवाद केवल चकाचौंध करने वाला एक चमत्कार-भर है तो मेरे लिए उसका कोई उपयोग नहीं। अगर वह 'प्रकृति' में सर्वसमर्थ 'भगवान्' की सामञ्जस्यमय व्यवस्था है तो मैं उसे समझ सकता और स्वीकार कर सकता हूँ।

CWSA खण्ड ३५, पृ. ४०५-४०६, ४०९-४१०, ४१२-१४

मानवता का भार

मैं बड़ी आतुरता से यह देखने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि आज रात के 'क्ष' के प्रश्न का आप क्या उत्तर देते हैं। कई बार मुझे ताज्जुब होता है कि आप कई मामलों में अपनी तुलना हमसे क्यों करते हैं भला? क्या आपने कभी हमारी तरह कामना, आवेश, अज्ञान, आसक्ति इत्यादि भोगे हैं?

हमने जो दुःख-कष्ट, जो संघर्ष झेले हैं उनके सामने तुम्हारे कष्ट मात्र बच्चों का खेल हैं; हम तुम्हारे साथ समानता नहीं दिखला रहे हैं। मैंने कहा कि अवतार वह है जो मानवता के लिए उच्चतर चेतना का मार्ग खोलने आता है—अगर कोई भी उस मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता

तो या तो इस पथ की हमारी धारणा एकदम से ग़लत है—जैसा कि ईसा, कृष्ण तथा बुद्ध के समय में भी हुआ—या फिर अवतार का सारा जीवन और उसकी सारी क्रिया ही एकदम से व्यर्थ है। ऐसा लगता है कि 'क्ष' का यह विचार है कि अवतार का अनुसरण करने का न कोई उपाय है न ही सम्भावना, और यह कि अवतार के दुःख-कष्ट, उसके संघर्ष सच्चे नहीं होते, सब गपबाज़ी होती है—जो कोई भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है उसके लिए दुःख-कष्ट की कोई सम्भावना ही नहीं होती। इस तरह की धारणा अवतारवाद की समस्त धारणा को व्यर्थ बना देती है; तब अवतार के अवतरण का कोई कारण नहीं रहता, कोई आवश्यकता, कोई अर्थ नहीं होता। सर्वसमर्थ ईश्वर धरती पर उतरने की परवाह किये बिना ही मनुष्यों को ऊपर उठा सकते हैं। अगर यह विश्व-व्यवस्था हो कि भगवान् अपने कन्धों पर मानवता का भार ढोयें और उसके सम्मुख नया पथ खोलें, केवल तभी अवतारवाद का कोई अर्थ होता है।

*

... मैंने कहा है, "मैंने 'पथ' खोल दिया है; अब तुम भागवत सहायता के द्वारा उसका अनुसरण कर सकते हो।" मैंने यह नहीं कहा, "अपना पथ स्वयं खोलो, जैसा कि मैंने किया।"

CWSA खण्ड ३५, पृ. ४२०-२१

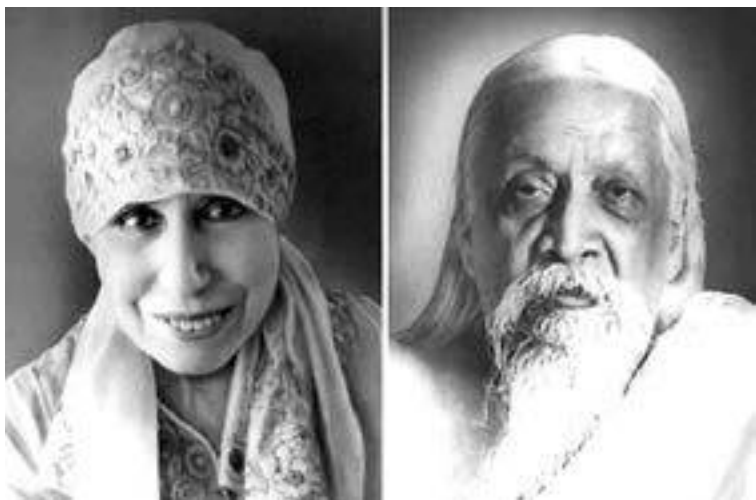
श्रीअरविन्द

व्यक्ति सुनिश्चित और निर्विवाद रूप से यह नहीं कह सकता कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, क्योंकि वे विभिन्न लोकों तथा स्तरों पर कार्य करते हैं। जब वे अतिमानसिक स्तर से कार्य करते हैं केवल तभी उनकी शक्ति सर्वशक्तिमती होती है।

अगर भगवान् अपने सारतत्त्व में सर्वशक्तिमान् नहीं होते तो वे कहीं भी सर्वशक्तिशाली नहीं होते—चाहे वह अतिमानसिक लोक हो या कोई और। चूँकि वे स्वयं अपनी सीमा का चुनाव करते हैं या परिस्थितियों के अनुसार अपनी क्रिया निर्धारित करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि यह चीज़ उनकी सर्वशक्तिमत्ता को अवर ठहराती है। उनकी आत्म-निर्धारित सीमाएँ स्वयं अपने-आपमें सर्वशक्तिमत्ता की क्रिया, उसकी द्योतक हैं।

CWSA खण्ड ३५, पृ. ४०३

श्रीअरविन्द



मेरे अन्दर यह बलवती श्रद्धा है कि आप भागवत तनु
में भगवान् के अवतार हैं। क्या मैं सही हूँ?

अपनी श्रद्धा का अनुसरण करो — वह तुम्हें पथच्युत नहीं
करेगी।

CWSA खण्ड ३५, पृ. ४३३

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द के जीवन का कालानुक्रम

१८७२—१५ अगस्त, कलकत्ते में जन्म।

१८७२-१८७९—पहले पूर्व बंगाल रंगपुर, फिर दार्जिलिंग के कॉन्वेंट स्कूल में गये।

१८७८—२१ फ़रवरी, श्रीमाँ का पैरिस में जन्म।

१८७९—श्रीअरविन्द को लन्दन ले जाया गया।

१८७९-१८८४—मैन्चेस्टर (८४, शेक्सपीयर स्ट्रीट) में ड्रुएट परिवार के संरक्षण में रह कर घर में ही शिक्षा प्राप्त की।

१८८३—पहली कविता 'Light' (प्रकाश) लिखी।

१८८४—सितम्बर में लन्दन के सेण्ट पॉल स्कूल में दाखिला।

१८८७—अगस्त की छुट्टियाँ हेस्टिंग्स में बितायीं। हेस्टिंग्स से लौट कर लन्दन के १२८, क्रॉमवेल रोड के एक घर में रहे।

१८८९—दिसम्बर में सेण्ट पॉल से मैट्रिक पास की।

१८९०—जुलाई में भारतीय प्रशासनिक सेवा के परिवीक्षार्थी के रूप में दाखिल हुए। ११ अक्तूबर, केम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में वजीफ़े के साथ प्रवेश किया। केम्ब्रिज में रहते हुए 'भारतीय मजलिस' नामक एक विद्यार्थी-दल के सदस्य बने; भारत की स्वाधीनता के समर्थन में भाषण दिये। 'Harmony of Virtues' (सद्गुणों का सामञ्जस्य) नामक नाटक लिखा।

१८९२—अगस्त में भारतीय प्रशासनिक सेवा की अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण की। अक्तूबर में केम्ब्रिज छोड़ा। लन्दन में "Lotus and Dagger" (कमल और कटार) नामक गुप्त समिति की रचना में हिस्सा लिया।

उन्हें "योग के पूर्व" की अपनी पहली अनुभूति—आत्मन् की मानसिक अनुभूति हुई।

नवम्बर में जान-बूझकर घुड़सवारी की परीक्षा में न जाकर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अयोग्य ठहराये गये।

१८९२—दिसम्बर में बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ के यहाँ नौकरी पक्की हो गयी।

१८९३—१२ जनवरी, एस.एस.कार्थाज जहाज़ में भारत के लिए रवाना हुए। जिब्रॉल्टर, पोर्ट सईद और एडन से होते हुए जहाज़ ६ फ़रवरी को

बम्बई के अपोलो बन्दरगाह पहुँचा। भारत की मिट्टी पर पैर रखते ही उनके अन्दर एक “महान् शान्ति” का अवतरण हुआ जिसने कई महीनों तक उनका साथ न छोड़ा।

१८ फ़रवरी—औपचारिक रूप से बड़ौदा-राज्य की सेवा आरम्भ की। उन्हें अपना पहला कार्य वहाँ के ज़मीन-व्यवस्था-विभाग में मिला।

बड़ौदा-निवास के पहले साल में एक बग्घी की दुर्घटना के ख़तरे के समय उन्हें अपने अन्दर से एक देवत्व के प्रकटन का अन्तर्दर्शन हुआ।

मार्च-अप्रैल में महाभारत के अनुवाद का कार्य किया।

"India and the British Parliament"—भारत तथा ब्रिटिश संसद—नामक एक लेख तथा New lamps / or Old—नूतन रोशनी / अथवा पुरातन—नामक लेखों की एक शृंखला बम्बई के इन्दु-प्रकाश पत्र के लिए लिखी।

१८९७—बड़ौदा-कॉलेज में अंशकालिक फ्रेंच के प्राध्यापक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया।

१८९८—कॉलेज में अंग्रेज़ी के कार्यकारी प्रोफ़ेसर के रूप में नियुक्त हुए।

१८९९—अंग्रेज़ी के कार्यकारी प्रोफ़ेसर और फ्रेंच के प्राध्यापक के रूप में कार्य किया।

१९००—कॉलेज में कार्यकारी प्रोफ़ेसर का पद जारी रहा।

१९०० के आसपास पहला राजनैतिक क्रदम उठाया : क्रान्तिकारी संगठन के लिए अपने सहायक के रूप में जतीन्द्रनाथ को बंगाल भेजा।

१९०१—१७ अप्रैल, कॉलेज से बड़ौदा-राज्य के रेवेन्यू-विभाग (राजस्व-विभाग) में स्थानान्तरण हो गया।

३० अप्रैल को भूपाल चन्द्र बोस की बेटी मृणालिनी बोस से कलकत्ते में विवाह हुआ। उसके बाद मृणालिनी तथा अपनी बहन सरोजिनी के साथ नैनीताल गये।

१९०२—विशेषकर १९०२ से श्रीअरविन्द ने अपनी छुट्टियाँ बंगाल के क्रान्तिकारी संगठन के कार्य के लिए बितायीं।

दिसम्बर में अहमदाबाद के भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की सभा में लोकमान्य तिलक से भेंट हुई।

१९०३—मई से अगस्त तक निजी सचिव के रूप में गायकवाड़ के साथ कश्मीर के दौरे पर गये।

कश्मीर में *तख़्तो-सुलेमान* में उन्हें निहिल अनन्त की अनुभूति हुई। उस पर 'अद्वैत'^१ नामक एक कविता लिखी।

१९०४—हुज़ूर कामदार के रूप में गायकवाड़ के लिए बहुधा प्रशासनिक कार्य किया।

१९०४—योग और प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ किया।

१९०५—कॉलेज के वाइस प्रिंसिपल का पद सँभाला।

३ मार्च कॉलेज के प्रिंसिपल बने।

१६ अक्तूबर—बंगाल-विभाजन एक "निर्विवादित तथ्य" बन गया।

श्रीअरविन्द ने विभाजन की हलचल के पहले दो चौपत्रे (पैम्फ्लेट) "No Compromise"—कोई समझौता नहीं—और "भवानी-मन्दिर" निकाले।

१९०६—१९ फ़रवरी विशेषाधिकृत अवकाश लेकर बंगाल के लिए रवाना हो गये।

११ मार्च—कलकत्ते में "National Council of Education" के गठन के समय उपस्थित थे।

१९ जून—बड़ौदा-कॉलेज से बिना वेतन एक वर्ष का अवकाश लेकर बंगाल लौट आये।

६ अगस्त—'बन्दे मातरम्' पत्र की घोषणा और 'बन्दे मातरम्' के सह-सम्पादक के रूप में आ गये।

१४ अगस्त—कलकत्ते में बंगाल नैशनल कॉलेज का उद्घाटन हुआ, पहले प्रिंसिपल बने श्रीअरविन्द।

१९०७—२३ अगस्त को *बंगाल नैशनल कॉलेज* के विद्यार्थियों को भाषण दिया।

'बन्दे मातरम्' के राजद्रोह के मामले के बाद श्रीअरविन्द बंगाल की नैशनल पार्टी के नेता के रूप में सामने आये।

२७ दिसम्बर—सत्र के दूसरे दिन : श्रीअरविन्द ने आदेश दिया, परिणाम-स्वरूप काँग्रेस में विच्छेद हो गया।

१९०८—जनवरी में बड़ौदा गये।

वहाँ विष्णु भास्कर लेले, एक मराठी योगी से मिले। लेले के मार्गदर्शन में उन्होंने मन की पूर्ण नीरवता प्रतिष्ठित की, नीरव ब्रह्म की अनुभूति

^१ यह कविता इसी अंक में पृष्ठ ४४ पर दी जा रही है। —सं.

प्राप्त की।

विभिन्न स्थानों पर अठारह सार्वजनिक भाषण दिये।

२ मई—अलीपुर बम-केस में आतंकी गतियों के आरोप में—जिसका नेतृत्व उनके भाई बारीन्द्र कर रहे थे—गिरफ्तार कर लिये गये।

५ मई—अलीपुर जेल में ले जाये गये।

५ मई १९०८ से ६ मई १९०९—अलीपुर में विचाराधीन कैदी रहे। एक वर्ष का अपना समय *भगवद्गीता*, *उपनिषद्* के अध्ययन, ध्यान तथा योगाभ्यास में बिताया। यहीं उन्हें सभी चराचरों, यानी, जड़ और निर्जीव सभी प्राणियों में सर्वव्यापी भगवान् (श्रीकृष्ण) के दर्शन हुए। श्रीमाँ ने इस अनुभूति का उल्लेख 'अतिमानसिक तादात्म्य' के रूप में किया है।

१९०९—६ मई को जेल से रिहा हो गये।

३० मई—उत्तरपाड़ा में ऐतिहासिक भाषण दिया।

१९ जून—'कर्मयोगिन' साप्ताहिक पत्रिका के पहले अंक का प्रकाशन, लेखन, निर्देशन इत्यादि सभी कुछ श्रीअरविन्द ने ही किया।

२३ अगस्त—'धर्म'—साप्ताहिक बंगला पत्रिका के पहले अंक का प्रकाशन, लेखन, निर्देशन इत्यादि सभी कुछ श्रीअरविन्द ने ही किया।

१८ अक्टूबर—'धर्म' में 'दुर्गा-स्तोत्र' का प्रकाशन।

१९१०—कलकत्ता छोड़ कर, फ्रेंच-शासित प्रदेश—चन्दननगर के लिए रवानगी।

३१ मार्च—चन्दननगर से कलकत्ता आये।

१ अप्रैल—S.S.Dupleix—एस.एस.दुपले—जहाज़ द्वारा फ्रेंच-शासित प्रदेश पॉण्डिचेरी के लिए रवाना हुए।

४ अप्रैल—पॉण्डिचेरी पहुँचे; *कॉम्टी चेटी स्ट्रीट* में शंकर चेटी के घर पर रहे।

यद्यपि श्रीअरविन्द ने अपना निवास-स्थान कई बार बदला, लेकिन पॉण्डिचेरी नहीं छोड़ा।

१९१०—Rue du Pavillion (Rue Suffren) र्यू द्यु पावीलिऑँ (र्यू स्यूफ्रैँ) में सुन्दर चेटी के निवास-स्थान पर आये।

१९११—अप्रैल में घर बदला। आ गये Rue St. Louis—र्यू सैं लुई
—(“राघवन हाउस” में)।

१५ अगस्त—पॉण्डिचेरी में श्रीअरविन्द का जन्मदिन मनाया गया।

१९१२—परब्रह्म की सिद्धि प्राप्त हुई।

१९१३—अप्रैल में घर बदल कर Rue des Missions Etrangères—
र्यू दे मिसिऑँ एत्रांज़ैर—(मिशन स्ट्रीट) में आये।

अक्तूबर में 9 Rue François Martin—९ र्यू फ़्राँसुआ मार्तैँ (“गेस्ट
हाउस”) में रहने आये।

१९१४—२९ मार्च श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ का प्रथम साक्षात्कार हुआ।

२१ जून को ‘आर्य’ पत्रिका प्रकाशित करने का फ़ैसला लिया।

१५ अगस्त—‘आर्य’ का पहला अंक निकला।

The life Divine—‘दिव्य जीवन’, The Synthesis of Yoga—‘योग-
समन्वय’, The Secret of the Veda—‘वेद-रहस्य’, The Isha Upanishad
—‘ईशोपनिषद्’ की पहली क्रिस्तें इसी में निकलीं।

१९१५—२१ फ़रवरी को श्रीमाँ का जन्मदिन पॉण्डिचेरी में मनाया गया।

२२ फ़रवरी—श्रीमाँ ने फ़्रांस के लिए प्रस्थान किया।

१९१६—फ़्रांस से श्रीमाँ जापान के लिए निकलीं।

१९१८—१७ दिसम्बर, कलकत्ते में मृणालिनी घोष का देहावसान।

१९२०—२४ अप्रैल, श्रीमाँ जापान से पॉण्डिचेरी लौट आयीं।

२४ नवम्बर माँ Rue François—र्यू फ़्राँसुआ—में उस घर में आ
गयीं जहाँ श्रीअरविन्द रह रहे थे।

१९२१—१५ जनवरी को ‘आर्य’ का अन्तिम अंक प्रकाशित हुआ।

१९२२—जनवरी में श्रीमाँ ने श्रीअरविन्द के घर इत्यादि की सारी
व्यवस्था सँभाल ली। इस साल से नियमित रूप से ‘सान्ध्य-वार्ताएँ’ तथा
सामूहिक ध्यान शुरू हुआ।

सितम्बर-अक्तूबर में श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ Rue de la Marine—र्यू
द ला मारीन—(वर्तमान आश्रम-भवन का दक्षिण-पश्चिम हिस्सा) में रहने
के लिए आ गये।

१९२६—२४ नवम्बर—सिद्धि-दिवस (विजय-दिवस) की घोषणा हुई:
श्रीकृष्ण का भौतिक में अवतरण-दिवस।

‘सान्ध्य-वार्ताओं’ तथा श्रीअरविन्द के साथ सीधे सम्पर्क पर पूर्णविराम लग गया। वे पूरी तरह से अपनी एकाग्र साधना में लीन हो गये, लेकिन साल में तीन बार उनके “दर्शन” होते थे।

श्रीमाँ ने साधकों की समस्त ज़िम्मेवारी तथा आश्रम की संरचना तथा सञ्चालन का पूरा कार्य-भार सँभाल लिया।

१९२७—८ फ़रवरी, श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ Rue François Martin—र्यू फ़्राँसुआ मार्तै—(वर्तमान आश्रम-भवन का उत्तर-पूर्व हिस्सा) में आ गये, जहाँ वे जीवन-पर्यन्त रहे।

१९२८—‘Mother’—माता—पुस्तक का प्रकाशन।

१९३०-१९३८—श्रीअरविन्द के एकान्तवास में निवृत्त होने के बाद, इन वर्षों में साधकों के साथ उनका पत्र-व्यवहार बहुत अधिक बढ़ गया। उसका अधिकांश Letters on Yoga; Letters on the Mother; Letters on Poetry; Literature and Art—श्रीअरविन्द के पत्र, श्रीमाँ विषयक पत्र, काव्य, साहित्य तथा कला इत्यादि पर पत्र—नामक विभिन्न पुस्तकों में छपा।

इन वर्षों में श्रीअरविन्द ने अपने काव्य, विशेषकर महाकाव्य ‘सावित्री’ पर बहुत कार्य किया।

१९३८—२४ नवम्बर, श्रीअरविन्द के दायें पैर की दुर्घटना हो गयी।

साधकों के साथ नियमित पत्र-व्यवहार समाप्त हो गया। कुछ गिने-चुने साधकों तथा उनके परिचारकों के साथ निजी सम्बन्ध स्थापित हुआ।

१९३९—२४ अप्रैल को पहली बार दर्शन हुआ; बाद में यह नियमित दर्शन-दिवस बन गया।

१९३९-१९४०—The life Divine—दिव्य-जीवन—का पुनरावलोकन तथा प्रकाशन हुआ।

१९४०—१९ सितम्बर, द्वितीय महायुद्ध के समय श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ ने मित्र-राष्ट्रों के समर्थन में सह-सम्मति की घोषणा की। डंकर्क से निष्क्रमण के समय से श्रीअरविन्द ने मित्र-राष्ट्रों के युद्ध के प्रयास के पीछे अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग किया।

१९४२—३१ मार्च, ब्रिटिश सरकार के दूत, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स के प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें भारत को युद्ध के बाद अपनी सरकार बनाने तथा युद्ध में ब्रिटेन की सहायता करने का सुझाव था।

१९४३—२ दिसम्बर, आश्रम के विद्यालय का आरम्भ हुआ।

१९४७—श्रीअरविन्द के ७५वें जन्मदिवस पर भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई। 'ऑल इण्डिया रेडियो' से श्रीअरविन्द के एक सन्देश का प्रसारण किया गया।

१९४९—२१ फ़रवरी शैक्षिक शिक्षा की पत्रिका Bulletin—बुलेटिन—का पहला अंक प्रकाशित हुआ। (अब इसका नाम—Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education श्रीअरविन्द अन्ताराष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र की पत्रिका कर दिया गया है।) इसमें श्रीअरविन्द द्वारा लिखे सात नये लेख सिलसिलेवार छपे। Mother India का भी पहला अंक छपा।

१९५०—पुस्तक के रूप में 'सावित्री' महाकाव्य के प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ।

५ दिसम्बर—श्रीअरविन्द का शरीर-त्याग।

९ दिसम्बर—आश्रम के आँगन में, उनका शरीर समाधिस्थ किया गया।

१९५१—'सावित्री' के भाग २ तथा ३ का प्रकाशन।

२४ अप्रैल—श्रीमाँ के सभापतित्व में, Sri Aurobindo University Centre—श्रीअरविन्द यूनिवर्सिटी सेण्टर—(जिसका वर्तमान नाम Sri Aurobindo International Centre of Education है) के उद्घाटन-समारोह की सभा का आयोजन किया गया।

१९५६—२९ फ़रवरी—पृथ्वी पर अतिमानस की अभिव्यक्ति।

१९६२—श्रीमाँ की ऊपर अपने कमरे में निवृत्ति। फिर वे नीचे नहीं उतरतीं।

१९६८—Auroville—ओरोवील—का शिलान्यास।

१९७२—श्रीअरविन्द की जन्म-शताब्दी के शुभ अवसर पर देश-देशान्तर में समारोहों का ताँता बँधा। अंग्रेज़ी में (३० खण्डों में) उनकी समस्त कृतियों का प्रकाशन।

१९७३—१७ नवम्बर श्रीमाँ का देह-त्याग।

२० नवम्बर—श्रीमाँ की महासमाधि। एक ही समाधि-स्थल पर, पृथक् पेटिकाओं में श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के शरीरों को पधराया गया है।

अद्वैत

पहुँच गया मैं तड़िते-सुलेमां
राज-मार्ग पर से चल कर ।
देखा 'शंकर' का मन्दिर जो
खड़ा हुआ उसके ऊपर ।
पृथ्वी की निष्फल प्रेम कहानी
जहाँ अशेष समाप्त हुई ।
रूखे-सूखे उसी शैल पर
एकाकी वह डटा हुआ ।
काल-शृंग से पाता है वह
अनन्तता का शुभदर्शन ।
निराकार सन्नाटा ही बस छाया था सर्वत्र सघन ।
एक विचित्र नामरहित में
हुआ सभी कुछ परिवर्तित ।
एक अजा केवल सत्ता में
देश-काल से जो विरहित ।।
ओर-छोर जिसका नहीं कोई
सदा-सर्वदा जो निश्चल ।
नीरवता ही थी बस जिसका
शब्द एक अस्फुट, केवल ।।
यही आदि था अति अज्ञात, क्षणिक शब्द-रूपों को तज ।
पथ-विहीन उत्तुंग शृंग पर
एकाकी था स्वयं आसीन ।।
और वही थी अमित शान्ति जो
अचल, प्रतिष्ठित शून्य नितान्त ।
प्रकृति-रहस्य के मौन मूकमय
उच्च शिखर पर जो एकान्त ।।

अनु. डॉ.रामकृष्ण

श्रीअरविन्द की कविता 'अद्वैत' के आधार पर

‘पुरोधा’ :

दैनन्दिनी

अगस्त

१. चमत्कार पल-भर का आश्चर्य हो सकता है। केवल भागवत विधान के अनुसार होने वाला परिवर्तन ही स्थायी हो सकता है।
२. हम जिस भागवत परम चेतना को नीचे उतार लाने की कोशिश कर रहे हैं वह सत्य-चेतना है। वह मन, प्राण तथा शरीर सभी स्तरों पर हमें हमारी सत्ता के सत्य और स्वभाव को दर्शाती है।
३. भागवत चेतना हमारी सत्ता के भागों पर धीरज के साथ और धीमे-धीमे कार्य करती है ताकि उसमें जो कुछ पूर्णता पाने में समर्थ है उसे पूर्ण बनाये तथा उन्नत करे तथा जो कुछ अन्धकारमय तथा अपूर्ण है उसे बदल दे।
४. भगवान् में जीना तथा चेतना को धारण करना ही अपने-आपमें अमरता है। और शरीर को भी दिव्य बना सकना तथा उसे भागवत कार्यों तथा भागवत जीवन के लिए योग्य यन्त्र बना सकना केवल उसकी भौतिक अभिव्यक्ति होगी।
५. अन्तरतम को बदलना चाहिये तभी बाह्यतम उसका अनुसरण कर सकेगा।
६. हम जो भी उन्नति करते हैं वह सदा, बिलकुल स्वाभाविक रूप से, ऊपर से आने वाले सत्त्यों का परिणाम होती है।
७. तुम बाहर की ओर क्रिया करते हो और सब कुछ कृत्रिम, कठोर, सूखा, गलत, मिथ्या, हाँ, कृत्रिम हो जाता है। तुम अन्दर की ओर क्रिया करते हो तब सब कुछ विशाल, शान्त, आलोकमय, प्रशान्त, असीम और आनन्दमय हो जाता है।
८. हम अपने अन्दर एक सत्य को लिये रहते हैं—प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर यह सत्य होता है और इसी सत्य के साथ उसे संयुक्त होना चाहिये, इसी सत्य को जीना चाहिये। इस प्रकार, इस सत्य के साथ संयुक्त होने तथा इसे प्राप्त करने के लिए जिस रास्ते का वह अनुसरण करेगा, वही वह रास्ता होगा जो उसे ‘ज्ञान’ के अधिकाधिक निकट

ले जायेगा।

९. जब हमारे अन्दर ज्ञान नया होता है तो वह अजेय होता है, जब वह पुराना हो जाता है तो अपना गुण खो देता है। यह इसलिए कि भगवान् सर्वदा आगे की ओर बढ़ते रहते हैं।
१०. प्रश्न : मैं उस बालवत् पथ के बारे में जानना चाहूँगा जिसे इस योग में अपनाया जा सकता है।
उत्तर : बालवत् पथ है—सन्देहरहित विश्वास का, पूर्ण निर्भरता का, अबाध समर्पण का पथ।
११. तुम्हें आन्तरिक परिवर्तन के लिए हमेशा अभीप्सा करनी चाहिये, तुम्हारे अन्दर यह इच्छा होनी चाहिये कि प्रकाश तुम्हारे अँधेरे भौतिक मन में आये, और तुम्हें शान्ति के साथ इस अभीप्सा तथा इच्छा के परिणाम की प्रतीक्षा करनी चाहिये।
१२. अन्तःप्रकाश केवल नीरव मन में ही हो सकते हैं—कम-से-कम अचञ्चल मन में, एक ऐसे मन में जो सर्वथा शान्त तथा अविचल हो; नहीं तो वे आते ही नहीं। या फिर यदि वे आते भी हैं तो व्यक्ति अपने शोर में उन्हें जान नहीं पाता।
१३. यह आनन्द, यह अद्भुत हास्य ही है जो समस्त छाया, समस्त दुःख-दर्द और समस्त सन्ताप को विलीन कर देता है। इस आन्तर सूर्य को पाने के लिए तथा उससे ओतप्रोत होने के लिए स्वयं अपने अन्दर पर्याप्त गहराई तक प्रवेश करना काफ़ी है और तब सब कुछ सुसमञ्जस, ज्योतिर्मय, सूर्यमय हास्य का झरना बन जाता है, जिसमें कहीं भी कोई छाया या दुःख नहीं रह सकता।
१४. हमने अपने शरीर के अन्दर इस ज्योतिर्मय हास्य को प्रविष्ट करने की विधि नहीं सीखी है जो समस्त अन्धकार, समस्त कठिनाई, समस्त असंगति, समस्त असामञ्जस्य को, जो कुछ कराहता, रोता और विलाप करता है उसको विलीन कर देता है।
१५. यह सूर्य, दिव्य हास्य का यह सूर्य प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में विद्यमान है, प्रत्येक वस्तु का सार है—हमें इसे देखना, अनुभव करना और जीवन में उतारना सीखना चाहिये।
१६. जब तुम अपने जीवन में पीछे की ओर देखो, तो प्रायः हमेशा तुम्हें

यह अनुभव होता है कि अमुक-अमुक परिस्थितियों में तुम अधिक अच्छा कर सकते थे, यद्यपि हर क्षण तुम आन्तरिक सत्य की आज्ञा का पालन कर रहे थे। इसका कारण यह है कि विश्व निरन्तर गति कर रहा है और जो पहले पूर्ण रूप से सत्य था आज अंशतः सत्य है। या अधिक यथार्थ रूप से कहा जाये तो, जिस क्षण क्रिया की गयी थी उस क्षण वह जितनी आवश्यक थी अब वह आवश्यक न होगी : उसके स्थान पर कोई और क्रिया अधिक उपयोगी होगी।

१७. भगवान् के साथ तादात्म्य तथा सायुज्य के लिए समचित्तता अनिवार्य शर्त है।
१८. हमने जो भूलें कीं, हम पर जो दुर्भाग्य टूटे उन्हें आना ही था क्योंकि उनकी कुछ आवश्यकता थी, हमारे जीवन के लिए उनकी कुछ उपयोगिता थी।
१९. पूर्ण निष्कपटता से हमारा मतलब है कि हमारे विचारों, भावों, संवेदनाओं तथा क्रियाओं को केवल हमारी सत्ता के केन्द्रीय सत्य को ही अभिव्यक्त करना चाहिये।
२०. परम सत्य को क्षण-भर के लिए भी जीना उसे पाने के तरीकों या प्रक्रियाओं के बारे में सैकड़ों किताबें लिखने या पढ़ने से कहीं अधिक मूल्यवान् है।
२१. जो ज्ञान तुम्हारे पास बाहर से आता प्रतीत होता है वह तुम्हारे अन्दर स्थित ज्ञान को बाहर लाने का केवल एक अवसर होता है। ऐसा हो कि जीवन की सभी परिस्थितियाँ, सभी घटनाएँ, हमेशा अधिक-से-अधिक सीखने के ऐसे अवसर बनें जो सतत रूप से नवीकृत होते रहें।
२२. प्रत्येक चीज़ के लिए, यहाँ तक कि अत्यन्त स्थूल वस्तुओं के लिए भी भगवान् पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास बनाये रखो, और फिर सब कुछ ठीक हो जायेगा।
२३. जो सतत रूप से आध्यात्मिक चेतना में निवास करता है उसके साथ होने वाली सभी घटनाएँ अपना विशेष मूल्य रखती हैं और सभी घटनाएँ उसके उत्तरोत्तर विकास की ओर प्रवृत्त होती हैं।
२४. तुम जो कुछ करो उसमें मज़ा लो, लेकिन मज़े के लिए कोई काम

न करो।

२५. हमें अपनी सत्ता की गहराइयों में छिपी पूर्णता, शक्ति, सुन्दरता तथा सत्य को सर्वांगीण रूप से जीना चाहिये। तभी समस्त जीवन उदात्त, शाश्वत, भागवत परम हर्ष की अभिव्यक्ति बनेगा।
२६. सारे संसार की निन्दा पाना उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता जिसे मालूम है कि उसे भगवान् की स्वीकृति और उनका सहारा प्राप्त है।
२७. ऐसा कोई काम नहीं है जो किया न जा सके यदि मनुष्य सचमुच उसे करना चाहता हो।
२८. चैत्य सत्ता का अन्वेषण भी एक महान् अन्वेषण है जिसमें उतने ही धैर्य और सहनशक्ति की आवश्यकता होती है जितने नये महाद्वीपों के अन्वेषण में।
२९. प्रत्येक मनुष्य जैसा वह स्वयं है उसके अनुसार स्वयं अपने परिवेश की रचना करता है।
३०. अध्यवसाय वह धैर्य है जो प्रस्तुत और तत्पर है और कभी चुपचाप नहीं बैठता।
३१. हाँ मेरे प्रिय बालक, तुमने ठीक किया कि तुम घबरा नहीं गये, लेकिन तुम्हें **भय** पर भी विजय पा लेनी चाहिये। तुम्हें सीखना चाहिये कि किसी से न डरो और जब डर तुम्हारे नज़दीक आना चाहे तो तुम्हें सोचना चाहिये, “मेरी माँ मेरे साथ हैं, मुझे क्या नुकसान पहुँच सकता है?”

‘दिव्य शरीर में दिव्य जीवन’

समर्पण करते चलें...

आपने कहा कि ध्यान में एक अवस्था आती है जब हमें समर्पण करना होता है। भगवान् के प्रति समर्पण करने का क्या सिद्धान्त है?

सिद्धान्त या उपाय?

उपाय।

यह भी टेनिस या कोई और खेल खेलने की तरह है। हर एक को अपने तरीके से करना होता है। लेकिन एक सामान्य उपाय है जो मैं तुम लोगों को बतला सकता हूँ। फिर से हम तली से शुरू करें, ऊपर से नहीं। तीन प्रश्न उठते हैं: किस चीज़ का समर्पण करना होता है? समर्पण करने वाला कौन है और वह किसके प्रति समर्पण करेगा? भगवान् के बारे में तुम्हारा क्या खयाल है? उन भगवान् के प्रति कौन समर्पण करेगा? एक पुरानी उक्ति है, “कस्मै देवाय हविषा विधेम” हम किस देवता को हवि दें? वेद में कहा गया है, “आत्महोता” यानी, आत्मा ही समर्पण करेगी, तुम्हारी आत्मा समर्पण करेगी। तुम पूरी तरह समर्पण न करोगे, पूरी तरह मन भी नहीं, बल्कि तुम्हारी आत्मा, तुम्हारी केन्द्रीय सत्ता, तुम्हारी सच्ची आत्मा समर्पण करेगी। लेकिन आरम्भ किसी भी स्तर पर किया जा सकता है। चलो, हम एक-एक क़दम करके बढ़ें। सबसे आसान है भौतिक समर्पण। तुम शान्ति से बैठ कर प्रार्थना कर सकते हो, “हे मेरे भगवान्, मेरा शरीर, मेरा चश्मा, मेरे कपड़े, मेरे पास जो भी धन है, मेरा फ़र्नीचर, मेरा मकान, सब तेरे हैं। मैं यही मानूँगा कि सब कुछ तेरा है और उसी तरह उनका उपयोग करूँगा।”

तुम जब यह पहली वृत्ति अपनाओगे तो क्या होगा? तुम कुछ भी नष्ट न करोगे क्योंकि सब कुछ उनका होगा। तुम हर चीज़ अच्छी-से-अच्छी तरह सुन्दर तरीके से रखोगे क्योंकि हर चीज़ उनकी है। तो भौतिक दृष्टि से यही तुम्हारी सबसे ऊँची स्थिति है। समर्पण की इस वृत्ति से तुम देखोगे कि जब तुम कहते हो, “मैं यह समर्पण करता हूँ” तो तुम्हारे अन्दर कुछ होता है, वे तुम्हारे पास आ पहुँचते हैं। तुम्हारे कपड़ों में चेतना आने लगेगी। मैंने तुम लोगों से पहले कहा था कि ध्यान के बारे में बातचीत पूरी नहीं हुई, मैंने यह नहीं कहा कि ऐसे किस तरह ध्यान किया जाये कि तुम्हारे कपड़े भी भागवत चेतना की ओर जाग सकें। दैनिक जीवन में यह एक महत्वपूर्ण ध्यान है। यह सुरक्षा का काम करता है। समर्पण द्वारा तुम्हारे अन्दर स्वतः ही बहुत-सी चीज़ें जाग उठती हैं। भगवान् ने एक शाश्वत वचन दे रखा है कि तुम मुझे जो कुछ अर्पण करोगे उसे मैं स्वीकार कर लूँगा। शिव को हलाहल अर्पित किया गया तो उन्होंने उसे भी स्वीकार कर लिया।

अब मैं दूसरे समर्पण पर आता हूँ। वह है प्राण का समर्पण। अन्त में

तुम क्या अर्पण करने वाले हो? प्राण एक मिश्रण होता है जो भौतिक दृष्टि से सरल है और प्राण की दृष्टि से कठिन। आज हर मनुष्य का प्राणिक, भावनामय पक्ष एक मिश्रण है—उदारता और लोभ, क्रोध और शान्ति का मिश्रण। इसका कारण है निम्नतम से वर्तमान अर्ध-मानव और अर्ध-पशु तक का विकास। अपना प्राण परम ज्योति को, अतिमानसिक सर्वज्ञ चेतना को भेंट कर दो, इसका उपाय है, अपनी इच्छा-शक्ति उन्हें अर्पित करना। प्राणिक भेंट अपनी इच्छा के उत्सर्ग द्वारा की जाती है। तुम प्रार्थना करो : “भगवन्, मैं वही करना चाहता हूँ जो तू मुझसे करवाना चाहे। मैं उदार भी नहीं होना चाहता।” तुम भगवान् के बल-बूते पर उदारता क्या दिखलाओगे? जब तुम एक बार सब कुछ उन्हें भेंट कर चुको तो फिर तुमको उदार होने का भी अधिकार नहीं रह जाता। तुमको कठोर और नियन्त्रित होना होगा। तुम्हें यह जान कर आश्चर्य होगा कि तुम्हें ऐसा अनुभव हो रहा है कि उन्होंने तुमको एक रात में ही स्वीकार कर लिया है। तुम्हारे जीवन में घटनाएँ घटनी शुरू होंगी।

प्राणिक समर्पण इच्छा का समर्पण है; और इसका भौतिक रूप है प्राण में ज्योति का ध्यान करना और उसे भेंट करना। भेंट के समय हम वास्तव में धरती पर पेट के बल लेट जाते हैं और साष्टांग प्रणाम करते हैं। यह हमारा भौतिक-प्राणिक समर्पण है। तुम्हें भगवान् के जिस रूप पर श्रद्धा हो उस पर ध्यान करो और अपना सारा शरीर उन्हें अर्पित कर दो, अपनी हथेलियाँ अर्पित कर दो, अपनी कलाइयाँ अर्पित कर दो, सब कुछ अर्पित कर दो, अँगुलियों की पोर तक अर्पित कर दो (इसमें समय लग सकता है)। यह है साष्टांग प्रणाम और जब तुम साष्टांग करके उठोगे तो अपने-आपको एक और ही व्यक्ति अनुभव करोगे।

जब तुम चीजों को अग्नि में डालते हो तो वे शुद्ध हो जाती हैं। उसी तरह, जब तुम चीजों को प्रकाश में—परम प्रकाश में—रखते हो तो अन्धकार विलीन हो जाता है। तुम अपने अन्दर भागवत उपस्थिति पर ध्यान करो और अपने-आपको उस परम उपस्थिति के अर्पण कर दो या फिर तुम अपने बाहर भागवत उपस्थिति पर ध्यान लगाओ और उसे समर्पण करो। अपने बाहर की भागवत उपस्थिति के प्रति समर्पण उतना प्रभावकारी नहीं होता जितना अपने अन्दर की भागवत उपस्थिति के प्रति होता है। और इसे हर

क्रदम पर करना होगा। जैसे-जैसे तुम समर्पण करोगे वैसे-वैसे तुम देखोगे कि तुम्हारा अर्पण बीज में से अंकुर फूट पड़ने-जैसा है—कोई चीज़ फूट पड़ती है और तुम्हारी सारी सत्ता प्रकाश के प्रति खुल जाती है—एकदम से कोई चीज़ खुल जाती है। तुम उसका अनुभव करते हो—वह छिपी नहीं रह सकती। चुपचाप तुम अर्पण करते चलो। यह होता है भौतिक-प्राणिक समर्पण, क्योंकि यह दोनों का, प्राण और भौतिक का, समर्पण है—एक ओर से प्राण का और दूसरी तरफ़ भौतिक-शारीरिक अर्पण—जैसा कि साष्टांग प्रणाम में भौतिक-प्राणिक समर्पण होता है। दो दिनों के लिए यह करो। परिणाम देखने के लिए अधिक समय तक करने की आवश्यकता नहीं। अगर तुम सचमुच उस तरीके से समर्पण करो जो तरीका मैंने बताया, तो तुम सवेरे जागने के बाद अपने अन्दर परिवर्तन देखोगे।

(क्रमशः)

—नवजातजी

श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार

(रवीन्द्रजी ने गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त करके श्रीअरविन्द के बड़े गुरुकुल में सन् १९३८ में २१ वर्ष की अवस्था में प्रवेश पाया था। २००१ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे यहीं के अन्तेवासी रहे।)

प.ले. का अर्थ है, पत्र-लेखक—सं.

हिन्दी-भाषी जहाँ भी जाते हैं वहीं की ग़लत-सलत हिन्दी बोलने लगते हैं और कई बार तो शुद्ध हिन्दी उनके लिए अजूबा बन जाती है। आश्रम में भी इस प्रकार की हिन्दी चलती है। हिन्दी-अध्यापक होने के नाते प.ले. के लिए एक समस्या खड़ी हो गयी। वह लिखता है : साहित्यिक हिन्दी ज़रा कठिन है, लेकिन उसी में हिन्दी-साहित्य का नवनीत भरा है। श्रीअरविन्द ने भी प्राचीन कवियों की बड़ी प्रशंसा की है। कुछ विद्यार्थी उपयोगिता की दृष्टि से उसे नहीं पढ़ना चाहते। वे केवल आधुनिक भाषा सीखना चाहते हैं जो उनके रोज़मर्रा के काम में उपयोगी हो। उसमें भी वे शुद्ध भाषा बोलने से कतराते हैं...

मैं पहले ही उत्तर देना चाहती थी लेकिन जल्दी में भूल गयी। उत्तर यह है : दोनों सिखाओ—सच्ची साहित्यिक भाषा और अब उसने जो रूप ले लिया है—यह वस्तुतः बहुत रुचिकर होगा और उन्हें बुरी हिन्दी बोलने के रोग से मुक्त कर सकता है।

मैं आपको एक मज़ेदार बात सुनाऊँ। मुझे अपने लेखों से ६७ रुपये मिले और मैं कुछ किताबें खरीदना चाहता था। एक दिन मैंने अचानक वे रुपये आपको दे दिये और एकदम किसी ने मुझे वही किताबें भेजीं जो मैं लेना चाहता था और साथ में लगभग २०० रु. की किताबें भेंट-स्वरूप!!

इस तरह की चीज़ें सैकड़ों बार हो चुकी हैं और अधिकाधिक हो रही हैं। मेरे लिए यह “बिलकुल स्वाभाविक” है, यद्यपि मैं इसे समझाने के लिए तैयार नहीं हूँ।

९ मई १९६३

माताजी,

मैं अपने विद्यार्थियों में काफ़ी लोकप्रिय था, लेकिन अब मैं लोकप्रियता खोता जा रहा हूँ, मैं चाहता हूँ कि वे गम्भीरता से काम करें। बाहर निकलने का रास्ता क्या है?

बाहर निकलने का रास्ता? चीज़ को शान्ति से लो, इस पर ध्यान न दो और शान्ति से अपना काम करते चलो... यह आशा रखो कि अच्छे दिन आयेंगे।

आशीर्वाद।

२२ मई १९६३

माताजी, एक मित्र भोजनालय के लिए चार-पाँच पंखे देना चाहता है, क्या आप स्वीकार करेंगी?

हाँ।

उसकी स्त्री से मैंने सुना है कि वह मेरे कमरे में भी एक पंखा

लगवाना चाहता है। मेरी पहली प्रतिक्रिया है, “नहीं, मुझे ऐश की चीज़ें नहीं चाहियें।” लेकिन लगता है कि मेरे अन्दर कहीं पर लोभ छिपा हुआ है। आपकी क्या सलाह है? (मैं स्वीकृति नहीं माँग रहा।)

कमरा छोटा है और पंखा अच्छा रहेगा। तुम लेकर देखो, शायद उससे सहायता मिले।

बुरी चीज़ है **दासता**। परहेज़ की दासता और आवश्यकताओं की दासता। जो आये उसे स्वीकार कर लो, लेकिन अगर वह जाये तो सदा छोड़ने के लिए तैयार रहो...

आशीर्वाद।

२४ जून १९६३

आश्रम के एक बड़े अच्छे कार्यकर्ता को क्षय-रोग हो गया। उसने तीन-चार बार स्वप्न देखा कि कोई बहुत काला आकार उसका गला घोंट रहा है, प.ले. पूछता है कि यह क्या चीज़ है और इसके लिए क्या करना चाहिये।

यह अवचेतन में कोई ग़लत रूपायण है, लेकिन अगर यह आदमी डरता नहीं तो वह दोबारा न आ पाता। यह तो न्यूनाधिक रूप से सचेतन भय ही है जो प्रायः सारी गड़बड़ करता है।

भय न हो तो कुछ नहीं हो सकता।

तुम उससे यह कह सकते हो।

जुलाई १९६३, ‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १७, पृ. ३२६-३०

महान् सत्ताएँ हमेशा बहुत सरल और विनम्र होती हैं।

—श्रीमाँ

With best compliments of:

DEORAH SEVA NIDHI

(Founder Trustee: Late Shri S.L. Deorah)

25, Ballygunge Park, Kolkata - 700019

साँवरे के दर्शन...

“जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।”

गाँव के चौपाल में पण्डितजी आँखें मूँदे, भक्तिभाव ओढ़े, बालगोपाल की कथा सुना रहे थे। प्रत्येक सुनने वाले के हृदय-पटल पर भक्ति-कूची से रँगी विविध, सुन्दर दृश्यावली चित्रित होती चली जा रही थी। किसी के सामने वह नटखट रूप में प्रकट हो अपनी विभिन्न क्रीड़ाएँ कर रहा था तो किसी के हृदय-चक्षु में वह वृन्दावन का रास-रचैया बना थिरक रहा था। उस बूढ़ी माई के तो रोम-रोम में वह कृष्ण कन्हैया समा गया था, उसकी बंसी-धुन उसके कानों में गूँज कर अमृत घोल रही थी। माई ने अपने कन्हैया को दौड़ कर अंक में भर लिया। उधर श्रोतागण में डाकू मानसिंह भी छद्मवेश में बैठा कथा सुन रहा था। आया तो था वह मुखिया का घर लूटने, लेकिन भीड़ का आकर्षण उसे चौपाल तक खींच लाया। पण्डितजी आभूषणों से लदे साँवरे के नख-शिख का वर्णन कर रहे थे और आँखें मूँदे मानसिंह का दिमाग उन गहनों की चमक-दमक से रह-रह कर कौंध रहा था। बस एक ही वाक्य उसके मन में हथौड़े की चोट पर बज रहा था—“अगर इस बालक के सारे क्रीमती आभूषण मेरी मुट्ठी में आ जायें...”

कथा समाप्त हुई। पण्डित को काफ़ी दान-दक्षिणा मिली। वह अपनी पोटली सँभालता हुआ घर की ओर चल पड़ा। गाँव और उसके घर के बीच जंगल पड़ता था जो मानसिंह के कारण दिन में भी हौआ बन गया था, ब्राह्मण अपनी गठरी सीने से चिपकाये जल्दी-जल्दी डग भरता हुआ उस जंगल को पार करना चाहता था, लेकिन उसे क्या पता कि जिस आतंक से वह भाग रहा था वह तो उसके पल्ले से बँध चुका था। अचानक पीछे से रक्त जमा देने वाली कठोर आवाज़ सुनायी दी—“ठहर जाओ!”

भयभीत ब्राह्मण ने पीछे देखे बिना क्रदम और भी तेज़ कर दिये।

“कहता हूँ ठहर जाओ। जान प्यारी हो तो रुक जाओ, वरना एक ही लाठी में काम तमाम हो जायेगा।” मानसिंह की गूँज से जंगल दहल उठा।

दुर्भाग्य का मारा ब्राह्मण काठ बना जहाँ का तहाँ ठिठक गया। मन उसका बुदबुदा उठा—“हे ईश्वर! इसी को कहते हैं कलजुग। मेहनत हम करें और पैसा लुटेरों की झोली में डाल दें।”

तब तक मानसिंह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उसके सामने आ पहुँचा। वह हौआ आज उसकी आँखों के आगे खड़ा था!! उस मुच्छैल, गबरू डाकू के डील-डौल से वह थरा उठा। तुरन्त अपनी पोटली उसके आगे बढ़ा दी।

“मुझे यह नहीं चाहिये।” मानसिंह गुर्गाया। पण्डित ने सोचा शायद धन चाहता है। तुरन्त अपनी जेब से सारी धनराशि उँडेल दी। मानसिंह का अट्टहास जंगल में फैल गया, वह बोल उठा—“अरे पण्डित! घबराओ मत। मैं छोटी-मोटी रकम के लिए अपने हाथ मैले नहीं करता। मैं तुम्हें या तुम्हारे धन को हाथ नहीं लगाऊँगा। बस तुम मेरा एक काम कर दो।” कथा में तुमने जिस बालक...

पण्डित सकपका कर बोल उठा—“हैं, क्या तुम कथा में आये थे?”

“हाँ, आया था, लेकिन ख़बरदार जो इसका किसी से ज़िक्र किया। हाँ, बस मुझे यह बता दो कि आभूषणों से लदा-सजा वह बालक रहता कहाँ है?”

ब्राह्मण को काटो तो लहू नहीं।

मानसिंह बौखला कर गरज उठा—“बोलते क्यों नहीं? क्या वह तुम्हारा कोई सगा लगता है जो उस पर दया आ रही है?”

“नहीं, नहीं...” पण्डित को कुछ सूझ न रहा था। आख़िर कहे तो क्या कहे? अगर कह दे कि यह तो कथा की बात है तो उसकी जान पर बन आयेगी। आख़िर उसने “वृन्दावन” कह कर अपनी जान बचानी चाही।

“वृन्दावन में कहाँ आख़िर? क्या मैं सारे वृन्दावन की खाक छानता फिरूँ? यह बताओ कि उसका घर कहाँ है?”

ब्राह्मण सकपकाया, मन ही मन बुदबुदाया, “यह तो और ही युग की बात है, क्या बताऊँ इस मूर्ख को?” पर किसे अपनी जान प्यारी नहीं होती? बस यूँ ही कह दिया, “मुझे घर तो नहीं मालूम, बस इतना सुना है कि वहाँ यमुना नदी बहती है, उसके तट पर कदम्ब का एक विशाल वृक्ष है। कदम्ब तले वह रोज़ सवेरे-शाम आकर अपनी बंसी बजाता है...”

“अरे मुझे उसकी दुअत्री की बाँसुरी से कोई लेना-देना नहीं। बस इतना बता दो कि वह सजा-धजा रोज़ आता है न वहाँ?”

“हाँ, हाँ भैया, सौ टके आता है वहाँ।” पण्डित ने वाणी में विश्वास भरते हुए कहा।

आखिर मानसिंह से पिण्ड छूटा। ब्राह्मणदेवता ने अपने सभी देवी-देवताओं को लाख-लाख धन्यवाद दिया और अपनी झोली सहेजे घर की ओर बेधड़क चल पड़ा।

वृन्दावन जा पहुँचा मानसिंह। यमुना नदी ढूँढ़ने की ज़रूरत न पड़ी। इधर-उधर देखा और चहक उठा—“वह रहा वृक्ष। वाह! पण्डित ने एकदम सच्ची बात बतायी थी!”

वह कदम्ब के पीछे छिप कर बालक की बाट जोहने लगा। शाम उतर रही थी। सारी दिशाएँ शान्त हो चली थीं। मानसिंह की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। साथ-ही-साथ लाठी पर भी उसके हाथ का ज़ोर बढ़ रहा था। दिमाग भी तेज़ी से दौड़ रहा था, “अरे, छोटा-सा ही तो है, एक बार गरजूंगा, बस डर के मारे सारे ज़ेवर सामने धर देगा, और अगर नादानी की तो एक ही हाथ...”

“छुम छुम...” मानसिंह सीधा होकर बैठ गया। हृदय तेज़ी से धड़कने लगा। कुछ भी हो, किसी को मारना इतना आसान नहीं... “छुम छुम...” उसने इधर-उधर नज़र दौड़ायी और दृष्टि तो उस सौन्दर्य पर जड़ गयी। सुन्दर, मनोहर, श्यामवर्ण बालक, हाथ में वंशी थामे उसी की ओर चला आ रहा है! डाकू ठगा-सा रह गया। उसके लिए यह एकदम से नया अनुभव था, मानों वह अपने लिए ही अजनबी बन गया था। उसके हृदय में एक अजीब-सी टीस होने लगी, उसकी आँखें गीली होने लगीं। अब वह बालक बहुत पास आ पहुँचा था। मानसिंह उसे भली-भाँति देख सकता था। परन्तु...

मानसिंह अपने-आपसे कहने लगा, “आखिर बात क्या है? यह... यह ...नहीं, नहीं... मानसिंह तुम बलवान् हो, दृढ़-प्रतिज्ञ हो, तुम्हारी इच्छा-शक्ति इतनी दुर्बल नहीं...”

मगर यह क्या? बुद्धि की सारी उछल-कूद के बावजूद मानसिंह की आँखों से आँसुओं की झड़ी रुकने का नाम ही न ले रही थी। उधर वह बालक था कि एकटक डाकू की आँखों में देखे ही जा रहा था और डाकू चुम्बक के आगे असहाय लोहे की भाँति उसकी दृष्टि से बँधा चला जा रहा था। लाख चाहने पर भी वह अपनी दृष्टि उससे फेर न पाया।

बालक ने एक-एक करके आभूषण उतारने शुरू किये तो अवाक्

मानसिंह फटी-फटी आँखों से उसे बस ताकता रह गया। अन्तिम ज़ेवर उतार, सबको अपने दुपट्टे में बाँध मानसिंह को देते हुए बोला—“लो, इन्हीं के लिए आये थे न?”

“नहीं, नहीं!” मानसिंह चीख पड़ा। “नहीं चाहियें तुम्हारे आभूषण। तुम इनके साथ कितने सुन्दर लगते हो।”

“नहीं, ले लो, घबराओ मत मानसिंह। मैं तुम्हें अपनी इच्छा से दे रहा हूँ। अब मना मत करो।”

मानसिंह के लाख मना करने पर भी पोटली उसके हाथ में ज़बरदस्ती थमा वह तो यह जा वह जा... पल-भर में न जाने कहाँ विलुप्त हो गया...। मानसिंह की हालत अजीब थी। हाथों में थमी पोटली आँसुओं से भीगी जा रही थी, वह ख़ुशी और दुःख की झड़ी थी जिसमें मिलन का आनन्द था तो बिछोह की उदासी भी थी। उस पोटली को सीने से चिपकाए मानसिंह किसी अदृश्य डोर से बाँधा-सा उसी दिशा की ओर बढ़ा चला जहाँ बालक अदृश्य हो गया था। शायद सारी रात चलता रहा—उसे कुछ होश नहीं। उसे तो ठोस अनुभव हो रहा था मानों वह श्यामवर्ण बालक त्रिलोक का सार धन पोटली में बाँध उसको थमा गया हो, उसका जीवन कृतार्थ कर गया हो।

मानसिंह जब सचेत हुआ तो उसने अपने-आपको उसी गाँव में पाया जहाँ उसने कथा सुनी थी और ठीक पण्डित के घर के दरवाज़े के सामने मानों उसकी तन्द्रा टूटी। ब्राह्मण तो मानसिंह को देखते ही हकलाने लगा, डाकू भाव-विभोर हो बोल उठा—“ब्राह्मण देवता, तुमने तो उस घनश्याम का ठीक-ठीक पता बता दिया। देखो, उसने न जाने मुझ पर कैसा जादू फेर दिया कि मुझे गहनों की पोटली थमा गया, लेकिन मेरा हृदय मुझसे ही चुरा कर चलता बना, सच, मुझ जैसा ही ठग निकला वह भी!”

ब्राह्मण तो फिर काठ का पुतला बन गया। इस बार मानसिंह के आतंक से नहीं बल्कि उसके व्यवहार से। अविश्वास के साथ बोल उठा—“भैया, क्या कहते हो, रात को कोई सपना देख लिया क्या?”

“अच्छा तो तुम्हें मेरी बातों पर सन्देह है तो यह देखो। उस घनश्याम के गहने तो पहचानते ही होगे तुम, इतने विस्तार से वर्णन कर रह थे कथा में।” कह कर डाकू ने पोटली ब्राह्मण के सामने खोल कर फैला दी।

पण्डित का सिर चकराने लगा, विश्वास करे तो कैसे और न करे तो कैसे!! बस इतना ही बोल पाया—“भैया, मुझे भी वहाँ ले चलो एक बार।”

दोनों वृन्दावन के लिए चल पड़े। कदम्ब के नीचे आकर ही उन्होंने साँस ली और लगे बालकृष्ण की बाट जोहने। शाम ढल आयी। दो जोड़ी आतुर आँखें प्रतीक्षारत थीं।

अचानक मानसिंह चौंका—“सुना पण्डित? सुना तुमने...?”

“क्या?”

“वही घुँघरू की आवाज़। कितनी मधुर है न?”

“नहीं तो, मुझे तो कोई आवाज़ नहीं सुनायी दे रही मानसिंह।” ब्राह्मण व्याकुल-सा बोल उठा।

“अरे पण्डित, ध्यान से सुनो... अरे देखो, देखो, वही तो चला आ रहा है मेरा कृष्ण... कितना मधुर, कितना सुन्दर दीख रहा है आभूषणविहीन भी वह...” मानसिंह अपनी रौ में बोले चला जा रहा था।

“लेकिन मानसिंह, मुझे तो कुछ भी नहीं दीख रहा, कुछ नहीं सुनायी पड़ रहा।” ब्राह्मण लौलीन डाकू का कन्धा झकझोर रुआँसा हो बोल उठा। लेकिन मानसिंह तो अपने भगवान् के दर्शन कर, उन्हीं में मगन था। उसके दमकते, प्रफुल्ल चेहरे को ताकता रहा पण्डित और फिर एकाएक बुक्का फाड़ कर रो पड़ा। उसके हृदय की गहराइयाँ रो रही थीं। उसका हृदय साँवरे के दर्शन के लिए तड़प-तड़प उठा और उसकी आँखें खुल गयीं। कृष्ण कन्हैया ब्राह्मण को अपनी एक उड़ती-सी झलक दिखा, कृतार्थ कर अन्तर्धान हो गये... जिस रूप के दर्शन के लिए देवता भी तरसते हैं—

‘देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाक्षिणः’।

‘पुरोध’, जुलाई २००३ से

—वन्दना



संकल्प

निरन्तर चौदह वर्षों तक गुरुकुल में आचार्य के चरणों में विद्याध्ययन करने के बाद ब्रह्मचारी दीक्षा प्राप्त करने के लिए आचार्य के पास गया। आचार्य के चरणों में झुक कर उसने कहा—“आचार्यवर, आपकी कृपा से मेरी शिक्षा पूरी हो गयी। मुझे दीक्षा दे दीजिये जिससे मैं जीवन में प्रगति-पथ पर बढ़ सकूँ।” आचार्य ने कहा—“शिष्य, तुम जीवन में यशस्वी होओ, सफल होओ, तुम सत्य का व्रत धारण करो। कितनी भी संकट-बाधाएँ क्यों न आयें, कभी सत्य का साथ न छोड़ना।”

सत्य का व्रत और पन्द्रह स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर वह घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसे एक ठग मिला। उसने कहा—“ए लड़के, तेरे पास क्या जमा-पूँजी है?” ब्रह्मचारी ने अपनी धोती की गाँठ से १५ स्वर्णमुद्राएँ निकाल कर कहा—“ये १५ सोने की मुद्राएँ मेरे पास हैं।” ठग बोला—“तुमने मुझे सच क्यों बतलाया? तुम कह सकते थे कि मेरे पास कुछ नहीं है। तुम्हारी हालत देख कर मैं विश्वास कर लेता।” ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया—“मुझे गुरुकुल में गुरु ने सदा सच बोलने की सीख दी है, मैं असत्य नहीं बोल सकता।”

इस बात का ठग पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह बोला—“हे सज्जन पुरुष! मुझे भी कुछ सीख दो, जिससे मेरा जीवन सुधर जाये।” ब्रह्मचारी बोला—“केवल एक संकल्प कर लो, उसे निभाओ। तुम संकल्प कर लो—ठगी छोड़ दोगे, मेहनत करके रोज़ी कमाओगे।”

कहते हैं कि इस सीख को अपना कर ठग का जीवन बदल गया।

कुछ ऐसी ही दशा वाल्मीकि ऋषि की भी हुई थी। वे भी साधु-सन्तों की सीख पर चल कर डाकू से सन्त-महात्मा बन गये थे और आदि-काव्य—रामायण—की रचना उन्होंने ही की थी।

प्रस्तुति: नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

मुखपृष्ठ

अवतार

परम प्रभु ने पृथ्वी पर पार्थिव रूप धारण किया

(मुखपृष्ठ के चित्र का श्रीमाँ द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ)

गुलाबी कमल श्रीअरविन्द का पुष्प है



सच्चिदानन्द

प्रबल और पवित्र, यह अपनी सर्जक शक्ति के साथ सीधा खड़ा रहता है ।
(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

Botanical name: Hedychium
Common name: Ginger lily. Garland lily